अर्द्ध मूल्य १) एक रुपया

दो शब्द

धर्म प्रेमी बन्धुओं !

प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व इसके अनुवाद कार्य में हुए अत्यधिक विलम्ब के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। मुझे स्वय को इसका पश्चाताप है कि जिस कार्य को सम्पन्न करने के लिए परम श्रद्धेय पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री पन्नालालजी महाराज साहब का निर्देश मिला उसे मैं उनके जीवन काल में मूर्त रुप न दे पाया। मानव जीवन में अनेकानेक बाधायें आती हैं तथा तात्त्विक ग्रंथ का अनुवाद भी स्वय में एक समय साध्य कार्य है इन्हीं कुछ कारणों से इस कृति को पाठकों तक पहुँचने में विलम्ब हुआ है जिसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक एक मरुधरीय संतरत्न श्री टीकमदासजी म० द्वारा गुजराती मिश्रित भाषा में संकलित हुई है। तत्वबोध की-दृष्टि से प्रस्तुत सकलन भव्य जनों के लिए ज्ञान पिपासा शांत करने में अति लाभप्रद जानकर, धर्मानुरागी सुश्रावक श्रीमान् सेठ सा० श्री रतनलालजी सा० बोकड़िया पादूरुपारेल वालों की तरफ से यह प्रेरणा रही कि इस पुस्तक का सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद हो जाय तो यह सस्करण जन साधारण के लिए विशेष उपयोगी हो सकता है। अगाध तत्व वारिधि से अमूल्य मणियों को चुनने में इस कृति को समर्थ जानकर एकदा आपने पूज्य

गुरुदेव श्री के समक्ष प्रसंग चलाया। सयोग से मैं भी उस समय गुरुदेव श्री के समीप ही खड़ा था। उनका मुझे निर्देश मिला जिसे स्वीकार करने में मैंने अपना सौभाग्य समझा। मेरे लिए जैन तात्त्विक साहित्य का अनुवाद करना और वह भी गुजराती भाषा से, जिसका मुझे अल्प बोध है, एक कठिन कार्य था। किन्तु परम पूज्य गुरुदेव श्री की अनुकम्पा एव आशीर्वाद का ही यह सुफल है कि मैं इसे आपके समक्ष इस रुप में प्रस्तुत कर सका।

अनुवाद-कार्य में समय २ पर मुझे पण्डित रत्न, परम ज्योतिर्विद गुरुवर्य श्री कुन्दनमलजी म० सा० ने मार्गदर्शन प्रदान कर अनुगृहीत किया है। उनकी प्रेरणा इस अनुवाद कार्य में मेरा विशेप सबल रही है अत: उनका आभार मानना भी मैं अपना परम कर्तव्य मानता हूँ। साथ ही प्रत्यक्ष व परोक्ष रुप से मुझे सहायता प्रदान करने वालों के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ।

यदि धर्म प्रेमी पाठकों को अगाध तात्त्विक साहित्य की गहराई तक प्रवेश करने में इस पुस्तक से यत्किंचित भी सहायता मिली तो इसे मैं अपना सौभाग्य मानते हुए परिश्रम की सफलता मानूंगा। सुज्ञेपु किं बहुना।

ब्यावर
दि. १८-४-७१

मदनसिंह कुम्मट
एम ए, बी. एड

* प्रकाशकीय

प्रिय आत्म बन्धुओं !

हमें आपके कर कमलों में, संत प्रवर टीकमदासजी म० द्वारा सकलित 'जैन तत्त्व शोधक ग्रंथ' को हिन्दी भाषा में अनूदित कराकर सादर समर्पित करते हुए परम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

परम श्रद्धेय, वयोवृद्ध, राजस्थान केशरी पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री पन्नालालजी महाराज साहब की आज्ञानुवर्तिनी बाल ब्रह्मचारिणी विदुषी महासतीजी श्री उमरावकवरजी म.सा. ठाणा ५ का सवत् २०२२ का वर्षावास पादू रुपारेल में हुआ। पूजनीया महासतिजी के सदुपदेशों से जो त्याग प्रत्याख्यान हुए वे अवर्णनीय हैं। ज्ञानाराधना के विषय में सारगर्भित प्रवचनों से प्रेरणा ग्रहण कर स्थानीय श्रावकों ने जैन वाङ्मय में से सरल एवं सुबोध शैली में सैद्धान्तिक तत्त्वज्ञान कराने वाले ग्रंथ की आवश्यकता का अनुभव किया। श्री श्वे० स्था० जैन स्वाध्यायी सघ के कर्मठ सदस्य श्रीमान् रतनलालजी सा० बोकड़िया का ध्यान उस समय इस ग्रंथ की ओर गया एव कुछ समय उपरान्त पूज्य गुरुदेव श्री की सेवा मे दर्शनार्थ उपस्थित होने पर आपने इसे स्वाध्यायी बन्धुओं के लिए ग्राह्य बनाने हेतु सरल हिन्दी से अनूदित करा देने की इच्छा प्रकट की। पूज्य गुरुदेव ने स्वा० संघ के अन्य कर्मठ सदस्य श्रीमान् मदनसिंहजी सा० कुंमट एम०ए०, बी०एड०

को निर्देश किया एव माननीय कुमट सा० के सतत प्रयत्नों के फलस्वरुप ही यह ग्रंथ आज आपके कर कमलों में पहुच सका है।

इस ग्रथ मे चौबीस द्वारों के माध्यम से जैन नव तत्वों को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया गया है। यथा स्थान शास्त्रों से विविध गाथाओं को भी उद्धृत कर कथ्य को अधिक प्रमाणोपेत ढंग से निरुपित किया गया है तथा अनेकों बार प्रश्नोत्तर शैली का अवलंबन लेकर इसे रोचक व सुबोध भी बनाया गया है। सपूर्ण जैन-तत्व-ज्ञानार्णव को संक्षिप्त कर गागर में उपस्थित करने का भागीरथ-प्रयास इस ग्रंथ में द्रष्टव्य है।

स्वाध्यायी श्रावकों के लिए एव जैन तत्व का परिचय पाने में रुचि रखने वाले श्रावकों के लिए उपयोगी जानकर ही इसे श्री श्वे० स्था० जैन स्वाध्यायी सघ द्वारा प्रकाशित कराया जा रहा है। इसके प्रकाशन की प्रेरणा में कारणीभूत धर्म प्रेमी, सुश्रावक श्रीमान् रतनलालजी सा० बोकड़िया धन्यवाद के पात्र हैं साथ ही श्रीमान मदनसिंहजी सा० कुंमट का आभार मानना भी मैं अपना कर्तव्य मानता हूं जिन्होंने व्यस्तता होते हुए भी इसका अनुवाद करने का कार्य सम्पन्न कर हमें अनुगृहीत किया है।

हम उन सभी दानदाता सद्गृहस्थों का भी नाम स्मरण किए बिना नहीं रह सकते जिन्होंने अपने शुभ द्रव्य का इस प्रकाशन में उपयोग कर कृतार्थ किया है।

इस शुभ अवसर पर परम श्रद्धेय, प्रशान्तात्मा, पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री छोटमलजी म सा, परम ज्योतिर्विद शास्त्रज्ञ पं० मुनि श्री कुन्दनमलजी म० सा० एव मधुर व्याख्याती पं० मुनि श्री सोहनलालजी म० सा० का भी परम कृतज्ञ हूँ जिनकी

सतत प्रेरणा एव मार्गदर्शन से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। परम ज्योतिर्विद प० मुनि श्री कुन्दनमलजी म० सा० ने इस अनुवाद को आद्योपान्त पढ़कर हमें अपने सुझावों से उपकृत किया है। तदर्थ मैं हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूँ।

ग्रंथ प्रकाशन में पूर्ण सावधानी रखते हुए भी दृष्टि दोष के कारण रही हुई अशुद्धियों को पाठकगण सशोधन कर पठन करेंगे ऐसी आशा है।

गुलाबपुरा
दि. २७-४-७१

मन्त्री —
श्री श्वे० स्था० जैन स्वाध्यायी संघ
गुलाबपुरा (राजस्थान)

द्रव्य सहायक

श्रीमान् अमरचन्दजी भंवरलालजी सा० छाजेड़ मेवड़ा
की तरफ से १०० पुस्तकें
,, जीवराजजी भवरलालजी सा० चोरड़िया भैरून्दा
की तरफ से १०० पुस्तकें
,, समीरमलजी भैरूलालजी सा० चोरड़िया की स्मृति में श्रीमान्
चम्पालालजी चोरड़िया पादू रुपारेल की तरफ से ३५१ पुस्तकें
,, हगामीलालजी सा० पालड़ेचा धनोप की तरफ से ५० पुस्तकें
,, रतनसिंहजी सज्जनसिंहजी सा० महता सांगानेर वालों की
मातेश्वरी श्रीमती चाऊबाई की तरफ से १०० पुस्तकें
,, फतहराजजी सा डूंगरवाल थांवला की तरफसे ५० पुस्तकें
,, रतनलालजी घेवरचन्दजी सा० खाबिया पादू रुपारेल
की तरफ से २५ पुस्तकें
,, केवलचन्दजी नेमीचन्दजी सा० तातेड़, शेरसिहजी की रीया
की तरफ से ५० पुस्तकें
,, भैरूमलजी सा० आबड़ पादू रुपारेल की तरफ से २१ पुस्तकें
,, सोहनलालजी सपतराजजी सा० खाबिया पादू रुपारेल
की तरफ से ११ पुस्तकें
,, घेवरचन्दजी सा० सांड पादू रुपारेल की तरफ से ११ पुस्तकें
,, मोहनलालजी सा० खाबिया पादू रुपारेल
की तरफ से ११ पुस्तकें
,, धूलचन्दजी सम्पतराजजी सा० पादू रुपारेल
की तरफ से ११ पुस्तकें
,, सुगनचन्दजी सा. आबड़ पादू रुपारेलकी तरफ से ११ पुस्तकें
,, भैरूमलजी सा०,खाबिया पादू रुपारेल की तरफ से ५ पुस्तकें

कहां, क्या है ? . . .

★

— शुद्धि पत्रम् —

पृष्ठ संख्या	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	५	कालास्तिकाय	कालद्रव्य
११	१४	तृष्णित	तृषित
१५	१७	दोन	दोनों
१६	६	अध्यव्यवसाय	अध्यवसाय
२६	६ व ७	क्षयोपक्षय	क्षयोपशम
२८	४	जघन्य ^ अगुली	अन्तर्मुहूर्त का उत्कृष्ट २२ हजार वर्ष का (८) अवगाहना जघन्य
३०	४	वाणम्यतर	वाणव्यतर
३०	१४	नारकीय तो	नारकीय असज्ञी तो
३६	१२	सावतां	सातवा
४१	३	फल का	फल को
४४	७	काणविक	कारादिक
५१	३	प्रेदेशी	प्रदेशी
५३	४	मिक्षण	मिश्रण
५४	१२	श्राकक	श्रावक
५८	१	व्रतावति	व्रताव्रती
६३	२	भयान्नास्मोभिः	भयान्नास्माभि.
६६	६	आहारिक	आहारादि
७१	१५	जणवइ	जणयइ
७१	१६	अथात्	अर्थात्
७२	८	अजोवित जणयइ, अजोर्गीण	अजोगित जणयइ अजोगीण
७७	१३	करे	कर
८४	७	व्रत	वत्
८४	८	वाहर	बारह
८७	६	भत्सर	मत्सर
६६	१८	कहा	कहा
६७	८	भाव्य	भव्य
६८	५	रशा	रक्षा

पृष्ठ सख्या	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६८	१६	प्रवति	प्रवृत्ति
६६	६	वदंणयाणं	वंदणयाणं
१०३	५	अट्ठिभिज्जा	अट्ठिमिज्जा
१०७	१	शख	शखजी पर
१०७	६	अध्याय	अध्याय में
१०८	१	धात	घात
१०८	१२	सामयिक	सामायिक
११०	१४	पदुगल	पुद्गल
११०	१६	क्षयोपक्षम	क्षयोपशम
१११	१६	सूत्रगडांग	सूयगडांग
१११	१८	नय से परिज्ञा	नय से ज्ञ परीज्ञा
११३	३	निर्थक	निरर्थक
११३	१८	'पर मति बच्चा'	'परमति नच्चा'
११४	१६	निन्हवादी	निन्हवादी
११४	२१	शुल्क	शुक्ल
११५	१५	निदोष	निर्दोष
११७	१४	स्वाभाव	स्वभाव
१२०	१	तिवण	तिठाण
१२०	६	भी ठाण	तिठाण
१२४	१०	भवती	भगवती
१२७	२	नौ	नौ में
१२८	१६	क्षयोपक्षम	क्षयोपशम
१३४	२	ना	×
१३४	५	प्रवृर्तना	प्रवर्तना
१३७	१५	उगाह	उग्गहो
१३८	११	साववें	सातवें
१३८	१२	आयाभणे	आयामणे
१३८	१७	परतु	परन्तु
१४०	६व१२	साववें	सातवें
१४३	५	षरगुण	परगुण
१५१	२	संपज्जवसिए	अपज्जवसिए

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५२	१२	अकाय	अकाम
१५७	१८	उन्नीसवें	उन्नतीसवें
१५७	१६	पच्चख्ययी	पच्चक्खाण से
१६१	१३	समुद्रघात	समुद्घात
१६२	१८	मिक्षु	भिक्षु
१६३	२	धर्मधर्म	धर्मअधर्म
१६४	१३	परन्त	परन्तु
१६७	७	भति	मति
१७०	१६	प्रदेशावगाय	प्रदेशावगाह
१७१	१०	क्षेत्र के	क्षेत्र से
१७२	१	वर्णा	वर्ण
१७२	१०	अवतर	अवातर
१७२	१६	बिखरे	बिखर
१७४	४	प्रण में	प्रणमे
१७८	१३	शुभ मन करने में	×
१७८	१७	संथारापयन्ना	संथारपयन्ना
१७६	२	अणेगाय	अणेगाइं
१७६	३	समाइ	सयाइं
१७६	१४	तेवण	तवेणं
१८२	१	से	में
१८५	८	का बन्धन	बन्धन का
१८८	२२	वास्विक	वास्तविक
१८६	६	सोएचा	सोच्चा
१६३	२१	एव	×
१६५	१६	खवेऊणं य पुन्नपांव	खवेऊण य पुण्णपावं
२०३	२१	न	×
२०४	२१	सभियत्ति	समियंति
२०५	१	सभियावा असभियावा सभिया	समियावा असमियावा समिया

नोट–पृष्ठ १८५ पर पक्ति ११ में 'क्योंकि' शब्द से लेकर पंक्ति १२ में कहा है तक का पाठ अनावश्यक है।

॥ नमोत्थुणं भगवओ महावीरस्स ॥

* जैन तत्त्व शोधक ग्रंथ *
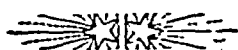
ग्रंथ कर्त्ता का मंगलाचरण :

प्रणम्य श्री महावीरं गौत्तमं गणिनं तथा
क्रियते बाल बोधाय ग्रंथोऽयं तत्त्व शोधकः ।

चौवीसवें तीर्थङ्कर श्रमण भगवन्त श्री महावीर स्वामी एवं प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामी को विधि पूर्वक वन्दन नमस्कार करके बाल बुद्धि जीवों के बोध प्राप्ति हेतु इस जैन तत्त्व शोधक नामक ग्रंथ का मैं (मुनि श्री टीकमदासजी) संकलन करता हूँ ।

अनुवादक द्वारा स्तुति :

नत्वा शांति जिनं देवं, सर्व विघ्नाय हारकम् ।
भव्यानामुपकाराय, ग्रंथोऽयं मयानुद्यते ॥

सर्वथा प्रकार से विघ्न बाधाओं के नाश करने वाले एवं विश्व में सम्पूर्ण शांति के प्रसारक भगवान श्री शांति-नाथ प्रभु को वन्दन नमस्कार करके भवी प्राणियों के हितार्थ इस तत्त्व शोधक ग्रंथ (जो गुजराती भाषा में संकलित है) का हिन्दी भाषा में मैं अनुवाद कर रहा हूँ ।

सर्व प्रथम इस ग्रंथ में चौवीस द्वार के माध्यम से परिचय दिया जा रहा है, जो संक्षेप में इस प्रकार है :-

(१) नाम द्वार (२) लक्षण द्वार (३) भेद द्वार (४) दृष्टान्त द्वार (५) परिचय द्वार (६) प्रश्न द्वार (७)आत्मा द्वार (८) सावद्य निर्वद्य द्वार (९) रूपी अरूपी द्वार (१०) जीवा जीव द्वार (११) शुभाशुभ द्वार (१२) धर्म कर्म द्वार (१३) आज्ञा अनाज्ञा द्वार (१४) नित्या नित्य द्वार (१५) गुणस्थान द्वार (१६) समावेश द्वार (१७) प्रकृति अप्रकृति द्वार (१८) भाव द्वार (१९) द्रव्य गुण पर्याय द्वार (२०) द्रव्य क्षेत्र काल भाव गुण द्वार (२१) उत्पात व्यय एवं ध्रुव द्वार (२२) तालाब दृष्टान्त द्वार (२३) भिन्ना भिन्न (भेदा भेद) द्वार (२४) हेय, ज्ञेय, उपादेय (त्याज्य, ज्ञातव्य एवं ग्राह्य) द्वार।

१. नाम द्वार

प्रथम नाम द्वार में तत्वों के नाम इस प्रकार हैं :-

(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध और (९) मोक्ष।

॥ प्रथम द्वार समाप्तम् ॥

२. लक्षण द्वार

दूसरे लक्षण द्वार में इन तत्वों के लक्षण बताये हैं :—

(१) जीव का लक्षण चेतन होता है।

(२) अचेतना लक्षण अजीव का है।

(३) जिन कर्मों से जीव को सुख प्राप्त होवे वह पुण्य कहलाता है।

(४) जिन कर्मों से जीव को दुःख प्राप्त होवे वह पाप कहलाता है।

(५) शुभा शुभ कर्मों के आने को आश्रव कहते हैं।

(६) आते हुये कर्मों को रोकने की क्रिया का नाम संवर है।

(७) पूर्वोपार्जित कर्मों को क्षय करने की क्रिया को निर्जरा कहते हैं।

(८) जिन क्रियाओं से शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बंध हो वह बन्ध कहलाता है।

(९) शुभा शुभ कर्मों से जीव की मुक्तावस्था का नाम मोक्ष है।

—ः द्वितीय द्वार समाप्तम् ः—

३. भेद द्वार

तीसरा भेद द्वार है इसमें तत्वों के भेदों का वर्णन किया है :-

जीव तत्व के दो भेद हैं :—

(१) शुद्ध जीव और (२) अशुद्ध जीव।

जो कर्म रहित शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप सिद्ध परमात्मा है वह शुद्ध जीव कहलाता है। संसारी जीव कर्म मल सहित चतुर्दश गुण स्थान में रहने वाला जीव अशुद्ध जीव कहलाता है।

सामान्य रूप से संसारी जीव के १४ भेद होते हैं :-

(एगिंदिया सुहुमियरा, सण्णीयर पंचिंदिया य सबितिचउ। अपज्जता पज्जता, कमेण चउदस जीव ठाणा।)

१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय	के दो भेद	अपर्याप्त	और	पर्याप्त
२. बादर एकेन्द्रिय	,,	,,	,,	,,
३. बेइन्द्रिय	,,	,,	,,	,,
४. तेइन्द्रिय	,,	,,	,,	,,
५. चौइन्द्रिय	,,	,,	,,	,,
६. असन्नी पंचेन्द्रिय	,,	,,	,,	,,
७. सन्नी पंचेन्द्रिय	,,	,,	,,	,,

७ × २ = १४

अजीव तत्व के दो भेद :—

(१) रूपी अजीव (२) अरूपी अजीव ।

इनके पांच भेद निम्न हैं :—

(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) कालास्तिकाय एवं (५) पुद्गलास्तिकाय ।

उत्तर भेद अजीव तत्व के १४ भेद बतलाये हैं :—
[१] धर्मास्तिकाय [२] अधर्मास्तिकाय [३] आकास्तिकाय

इन तीनों के तीन तीन भेद होते हैं :—
[१] स्कन्ध [२] देश [३] प्रदेश । इन तीनों से तीन बार गुणा करने पर नौ भेद हुए और काल द्रव्य मिलकर दस भेद हुए । इनमें पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु पुद्गल मिलाने पर चौदह भेद हुए ।

टिप्पणी–अथवा इनको निम्न प्रकार से भी समझा जा सकता है

अजीव के दो भेद :–[१] रूपी अजीव [२] अरूपी अजीव

रूपी अजीव के चार भेद (रूपी का पर्याय पुद्गल होता है अतः उपयु क्त विवरण में रूपी अजीव को पुद्गलास्तिकाय में लिया है ।)

[१] स्कंध [२] देश [३] प्रदेश एवं [४] परमाणुपुद्गल ।

अरूपी जीव के दस भेद :—

[१] धर्मास्तिकाय का स्कन्ध [२] धर्मास्तिकाय का देश
[३] धर्मास्तिकाय का प्रदेश [४] अधर्मास्तिकाय का स्कंध
[५] अधर्मास्तिकाय का देश [६] अधर्मास्तिकाय का प्रदेश
[७] आकाशास्तिकाय का स्कंध [८] आकाशास्तिकाय का देश
[९] आकाशास्तिकाय का प्रदेश [१०] काल द्रव्य ।

पुण्य तत्व—सामान्य रूप से पुण्य तत्व के दो भेद हैं :-

[१] द्रव्य पुण्य अर्थात् व्यवहार पुण्य
[२] भाव पुण्य अर्थात् निश्चय पुण्य ।

पुण्य ९ प्रकार से उपार्जन होता है :—

१. अन्न पुण्य – अन्न देने से ।
२. पाण पुण्य – पानी देने से ।
३. लयण पुण्य – स्थानादि देने से ।
४. शयण पुण्य – शय्या, पाट, पाटला, बाजोट आदि देने से
५. वस्त्र पुण्य – कपड़ा आदि देने से ।
६. मन पुण्य – मन में शुभ परिणाम रखने से ।
७. वचन पुण्य – मुख से शुभ वचन बोलने से ।
८. काय पुण्य – शरीर से दूसरों की वैयावच्च करने से, पराया दुख दूर करने से, जीवों को साता उपजाने से ।
९. नमस्कार पुण्य – योग्य पात्र को नमस्कार करने से ।

पाप तत्व—सामान्य रूप से पाप तत्व के भी दो भेद होते हैं
[१] द्रव्य पाप अर्थात् व्यवहार पाप
[२] भाव पाप अर्थात् निश्चय पाप

उत्तर भेद से पाप का बंध १८ प्रकार से होता है :–
[१] प्राणातिपात–हिंसा करने से [२] मृषावाद–झूंठ बोलने से
[३] अदत्तादान–चोरी करने से [४] मैथुन– स्त्री संसर्ग से
[५] परिग्रह–धन आदि के संग्रह और ममत्व से [६] क्रोध से
[७] मान से [८] माया से [९] लोभ से [१०] राग से
[११] द्वेष से [१२] कलह से [१३] अभ्याख्यान–
दूसरों पर मिथ्यारोपण करने से [१४] पैशुन्य–चुगली खाने से
[१५] परपरिवाद–दूसरों की निन्दा करने से
[१६] रति अरति–भोगों में प्रीति एवं संयम में अप्रीति रखने से
[१७] माया मृषावाद–कपट सहित झूंठ बोलने से
[१८] मिथ्या दर्शन शल्य–असत्य मत की श्रद्धा होने से।

आश्रव तत्व— आश्रव तत्व के दो भेद–[१] द्रव्य आश्रव
[२] भाव आश्रव तथा ५ भेद– १–मिथ्यात्व २–अव्रत
३–प्रमाद ४–कषाय एवं ५–अशुभ योग।

उत्तर भेद के २० प्रकार :—
१. मिथ्यात्व–कुगुरु, कुदेव तथा कुधर्म पर श्रद्धा करना
२. अव्रत–सावद्य कार्य (पाप युक्त कार्य) में संलग्न रहना
तथा हिंसा युक्त कार्यों में प्रवृत्त होना।

३. प्रमाद–मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा में प्रवृत्त होना
४. कषाय–क्रोध, मान, माया एवं लोभ में प्रवृत्ति करना
५. योग–मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति।
६. प्राणातिपात–प्राणियों की हिंसा करना।
७. मृषावाद–असत्य वचन बोलना।
८. अदत्तादान–चोरी करना।
९. मैथुन–अब्रह्मचर्य सेवन करना।
१०. परिग्रह–किसी भी पदार्थ में ममत्व एवं मूर्छा भाव रखना
११. श्रोत्रेन्द्रिय को अशुभ कार्य में लगाना।
१२. चक्षुरिन्द्रिय को अशुभ कार्य में लगाना।
१३. घ्राणेन्द्रिय को अशुभ कार्य में लगाना।
१४. रसेन्द्रिय को अशुभ कार्य में लगाना।
१५. स्पर्शेन्द्रिय को अशुभ कार्य में लगाना।
१६. मन को अशुभ कार्य में प्रवृत्त-करना।
१७. वचन योग से अशुभ कार्य में प्रवृत्त होना।
१८. काया योग से अशुभ कार्य में प्रवृत्त होना।
१९. वस्त्र, पात्र आदि उपकरण बिना यत्ना से ग्रहण करना या रखना।
२०. शुचि कुसगा–सूई (शुचि) एवं तिनका मात्र भी अयतना से लेना या रखना।

संवर तत्त्वः–संवर के दो भेद–(१) द्रव्य संवर (२) भाव संवर

संवर के ५ भेद :–(१) समकित प्राप्ति करे तो संवर (२) व्रत

पच्चखाण करे तो संवर (३) प्रमाद नहीं करे तो संवर (४) कषाय नहीं करे तो संवर एवं (५) शुभ योग वर्ते तो संवर।

उत्तर भेद २० प्रकार से :—

(१) सम्यक्त्व – जिन प्ररूपित तत्त्व में श्रद्धा रखना।
(२) विरति–व्रत प्रत्याख्यान (३) अप्रमत्तता–प्रमाद का त्याग
(४) कषाय का त्याग (५) अयोगता–अशुभ योग का त्याग
(६) जीवों की दया पालना (७) सत्य वचन बोलना
(८) अदत्तादान (चोरी) का त्याग करना (९) ब्रह्मचर्य पालना
(१०) परिग्रह–ममता का त्याग करना (११) श्रोत्रेन्द्रिय को वश में करना (१२) चक्षुन्द्रिय को वश में करना
(१३) घ्राणेन्द्रिय को वश में करना (१४) रसनाइन्द्रिय को वश में करना (१५) स्पर्शेन्द्रिय को वश में करना
(१६) मन को वश में करना (१७) वचन को वश में करना
(१८) काया को वश में करना (१९) भण्डोपकरणों (वस्त्रादि सामग्री) को यतना पूर्वक उठाना और रखना
(२०) सूई कुसग्ग में यतना करना अर्थात् सूई और तिनका जैसी छोटी सी वस्तु भी यतना से लेना और रखना।

निर्जरा तत्त्व के दो भेद– १–द्रव्य निर्जरा २–भाव निर्जरा

उत्तर भेद १२:–१. अनशन – उपवासादि तप करना।
२. उनोदरी – आयंबिल, एकासनादि तप अर्थात् भूख से न्यून आहार करना।
३. भीक्षाचरी–याचना (मांग) करना।

४. रस परित्याग–दूध, दही, घृत, तेल, आदि का त्याग करना

५. काया क्लेश– गोदूहादि आसन करना।

६. इन्द्रिय पड़िसंलेषणा

७. प्रायश्चित–लगे हुए दोषों की आलोचना कर शुद्ध होने के लिये तपस्यादि प्रायश्चित करना।

८. विनय – पूजनीय गुरूजनों के प्रति विनय भाव रखना

९. वैयावच्च–रोगी, तपस्वी, बाल आदि की सुश्रुषा करना।

१०. सज्झाय–जिनवाणी का पठन, पाठन आदि करना।

११. ध्यान– स्थिर चित्त बनकर लोक स्वरूप, कर्म स्वरूप, आत्मस्वरूपादि तत्व चिंतन में रत रहना।

१२. काउसग्ग (कायोत्सर्ग)–काया का ममत्व छोड़ना।

बंध तत्त्व के दो भेद— १–द्रव्य बन्ध २–भाव बन्ध।

उत्तर भेद ४ प्रकार के :—

१. प्रकृति बन्ध–कर्म का जो स्वभाव या परिणाम है उसे प्रकृति बन्ध कहते हैं।

२. स्थिति बंध–कर्मों की स्थिति–स्थिति बंध कहलाता है।

३. अनुभाग बंध–जीव परिणामों की तीव्रता व मंदतादि भावों से तीव्र मंदादि रस बंध को अनुभाग बंध कहते हैं

४. प्रदेश बंध–कर्म पुद्गलों का समूह–प्रदेश बंध कहलाता है।

मोक्ष तत्त्व के दो भेद:— १–द्रव्य मोक्ष २–भाव मोक्ष।

उत्तर भेद ४ प्रकार के प्रमाण से :—

१–ज्ञान २–दर्शन ३–चारित्र ४–तप।

—:: तीसरा द्वार समाप्तम् ::—

४. दृष्टांत द्वार

जीव का चैतन्य लक्षण किस दृष्टांत से ? यह जानने, देखने एवं उपयोग से जाना जाता है। चैतन्य जीव का गुण है। जिस प्रकार गुड़ का गुण मिठास है उसी प्रकार जीव का गुण चेतन है। जिस प्रकार गुड़ और मीठास एक है उसी प्रकार जीव और चेतन एक है।

अजीव का अचेतन लक्षण जड़ रूप है। उसके पांच भेद है- (१) धर्मास्तिकाय का चलन (गति) गुण वह किस दृष्टांत से ? जिस प्रकार मछली को गति देने में पानी आधार है एवं पंगु को लकड़ी का आधार है, उसी प्रकार जीव एवं पुद्गल को गति प्रदान करने में धर्मास्तिकाय का आधार है।

(२) अधर्मास्तिकाय का स्थिर गुण वह किस दृष्टांत से ? जिस प्रकार उष्ण काल में तृष्णित प्यास से पीड़ित पंथी को वृक्ष की छाया आधार है उसी प्रकार जीव पुद्गल को स्थिर रहने में अधर्मास्तिकाय का आधार है।

(३) आकाशास्तिकाय का अवकाश गुण वह किस दृष्टांत से ? जिस प्रकार एक कक्ष (कमरे) में एक दीपक की ज्योति समाहित होती है उसी कमरे में हजार दीपक की ज्योति भी समाहित हो सकती है, जिस प्रकार पानी के लोटे में बताशा समाहित हो जाता है, जिस प्रकार

पृथ्वी में कीली गाड़ने पर समाहित होती है, उसी प्रकार एक एक आकाश प्रदेश में एक दो से लगाकर अनन्त परमाणु रहते हैं।

(४) काल का वीतना (व्यतीत) लक्षण किस दृष्टांत से ? जिस प्रकार कोई बालक जन्मा हो तत्पश्चात् बाल्यावस्था को प्राप्त हो, फिर तरूणावस्था में आवें और तत्पश्चात् वृद्धावस्था को प्राप्त हो। इन सभी अवस्थाओं में जीव तो एक समान ही रहता है परन्तु बाल, तरुण एवं वृद्धावस्था का करने वाला काल है। काल के प्रभाव से जीव पुद्गल नई नई अवस्था धारण करता है परन्तु जीव एवं पुद्गल द्रव्य का विनाश नहीं होता सिर्फ पर्याय पलटती है। इसका दृष्टांत इस प्रकार है– जिस प्रकार कोई स्वर्ण की मुद्रिका बनवाता है फिर उसी मुद्रिका की मुरकी (कर्ण भूषण) बनवाता है, उसी का विनाश करवाकर गलहार बनवाता है, इस प्रकार नई नई अवस्थाएं धारण करता है, परन्तु मूल द्रव्य स्वर्ण का विनाश नहीं होता। उसी प्रकार पुद्गल परमाणु भी द्विप्रदेश आदि से अनन्त प्रदेशी तक नये नये रूप एवं अवस्था धारण करता है, परन्तु पुद्गल का अपुद्गल नहीं होता, जिस प्रकार सोने का आकार परिवर्तन हुआ परन्तु सोना वही रहा उसी प्रकार जीव एवं पुद्गल भी वही रहते हैं वे परिवर्तित नहीं होते।

यहां कोई अविवेकी पुरुप इस प्रकार कहता है कि जो जो शाश्वत (नित्य) वस्तु है, वह जीव जो जो आशास्वत (अनित्य) है परिवर्तनशील है वह काल कहलाता है। जिस प्रकार जीव का पर्याय नरक आदि, तीर्थंकर आदि और पुद्गल का पर्याय लकड़ी आदि नाम ये सब परिवर्तन प्राप्त करते हैं इसलिये वे (शाश्वत) नित्य नहीं, अस्तु जो नित्य नहीं वह काल है। इस कारण से तीर्थंकरत्व जीव नहीं नरक आदि भी जीव नहीं और परमाणु भी पुद्गल नहीं। जो इस प्रकार से कहते हैं उन्हें एकांत दृष्टि स्थापित करने वाले जानना चाहिये। इस प्रकार का विचार प्रदर्शित करने पर सूत्र के अनेक वचनों का विरोध होता है और अनेक पाठों की उत्थापना होती है। सूत्र में स्थान स्थान पर नरकादि को जीव कहा है। बाल, तरूण, तीर्थंकर आदि ये सब जीव की अवस्था है। "जीव की अवस्था को जीव कहा जाता है, वह किस दृष्टांत से? जिस प्रकार मुद्रिका आदि सोना कहलाता है उसी प्रकार नरकादिक भी जीव कहलाते हैं।" यहां कोई प्रश्न करता है कि यदि तुम जीव की अवस्था को जीव कहते हो तो फिर काल किसे कहते हो? उसका उत्तर है—जीव की अवस्था काल नहीं कहलाता है परन्तु जो अवस्था को करने वाला चन्द्र सूर्य का अपने मण्डल में परिभ्रमण है उसे काल कहते हैं। प्रश्न यदि ऐसा है तो यह कारण तो अढ़ाई द्वीप में है। अढ़ाई द्वीप के बाहर

तो नहीं ! परन्तु अवस्था तो सर्व लोक में है । समाधान– अवस्था सर्व लोक में है यह ठीक है परन्तु वहां भी अढ़ाई द्वीप की अपेक्षा से समय, घडी, दिवस आदि के अनुमान से समय, घड़ी, दिवस आदि की कल्पना की जाती है । अतः उसे काल कहते हैं । उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठावीस में अध्याय में कहा हैं कि " वत्तणा लक्खणो कालो " काल का लक्षण वर्तना है (व्यतीत होना है) । "एगतं च च पुहुतं च, पज्जवाणं तु लक्खणं" मिलना, भिन्न होना इत्यादि पर्यायों के लक्षण हैं ।

अव पुण्य और पाप इन दोनों के दृष्टांत एक साथ कहते हैं । पुण्य सुख का देने वाला है और पाप दुःख का देने वाला है, ये दोनों कर्म के परिणाम है । इसका दृष्टांत इस प्रकार है जिस प्रकार पथ्य आहार (स्वास्थ्य) शांति प्रदान करता है तथा कुपथ्य आहार अंशाति प्रदान करता है परन्तु किसी जीव का पथ्य आहार वढ़ता है और कुपथ्य आहार घटता है तव वह निरोगी होता है तथा कुपथ्य आहार अधिक मात्रा में वढ़ता है और पथ्य आहार घटता है तव रोग भी उसी के अनुसार व्याप्त होता जाता है । इसी प्रकार पथ्य आहार कम हो और कुपथ्य आहार अधिक हो तो शरीर रोगी हो जाता है और यदि दोनों आहार छूट जाय तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है । इसी प्रकार जीव के

लिए पुण्य और पाप दोनों आहार समझे। जिसके पुण्य अधिक और पाप कम, वह सुख प्राप्त करता है, तथा पाप अधिक व पुण्य कम वह दुःख प्राप्त करता है। और पुण्य और पाप दोनों से परे रहने पर मोक्ष प्राप्त होता है। परन्तु संसारी सर्व संयोगी जीव को पुण्य और पाप दोनों नियमा उदय भाव में प्राप्त होते हैं परन्तु ऐसा कोई जीव नहीं। यहां प्रश्न होता है कि– जब सर्व जीव पाप पुण्य युक्त है तो कोई जीव पुण्यवंत कहलाता है और कोई पापी वह किस प्रकार ? इसका उत्तर है– जिस प्रकार आहार के दृष्टांत से जिसमें जिसकी अधिकता होती है वह उसी के अनुसार पुकारा जाता है। जिस जीव के शुभ कर्मों का उदय अधिक होता है और अशुभ कर्मों का उदय कम होता वह देवता प्रमुख की गति पाता है और उसी को पुण्यवान कहा जाता है निरोगता एवं पथ्य आहार के समान। इसी प्रकार जिसके अशुभ कर्म का उदय अधिक हो और शुभ कर्मों का उदय कम हो तो उसे नरकादि अशुभ गति प्राप्त होती है उसे पापात्मा कहते हैं। जिस आत्मा के पाप पुण्य दोनों क्षीण हो जाते हैं तब वह मोक्ष प्राप्त करता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के इक्कीसवें अध्याय में कहा है–"दुविहं खवेऊणं य पुण्ण पावं" अर्थात् पुण्य पाप दोनों को क्षय करके आत्मा सिद्ध बुद्ध बनता है। यह कथन उदय की अपेक्षा से है।

अब बन्ध की अपेक्षा से कहते हैं, कषाय युक्त जीव समय समय पर पुण्य और पाप दोनों का बन्धन करता है। परन्तु ऐसा जीव कोई नहीं है जो केवल पाप का बन्धन करता है अथवा केवल पुण्य का बन्धन करता है। छठे सातवें गुण स्थान में चौदह पूर्व के जानकार ज्ञान के स्वामी शुक्ल लेश्या वाले साधु सर्वार्थ सिद्ध विमान का आयुष्य बन्धन करता है, परन्तु शुभ कर्मों को मात्रा बंधन में अधिक होने से शुभ बंध कहा जाता है अथवा कृष्ण लेशी दुष्ट अध्यव्यवसाय से संक्लेश में मिथ्या दृष्टि जीव सातवीं नरक का आयुष्य बंधन करता है, उस समय में भी पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रस नाम इत्यादि शुभ प्रकृति का बंध भी होता है परन्तु बहुलता से अर्थात् अधिकता से पाप का बंध कहा जाता है। ये उत्कृष्ट भांगे कहे, इसी प्रकार सर्वत्र मध्यम भांगे भी जानने चाहिये।

यहाँ कोई अज्ञान ग्रसित मनुष्य कदाचित् इस प्रकार कहे कि पुण्य और पाप इन दोनों का एक समय में बंधन नहीं होता जिस प्रकार धूप और छाँह ये दोनों सम्मिलित नहीं होते उसी प्रकार पुण्य और पाप का बन्ध एक साथ नहीं हो सकता। उसका उत्तर इस प्रकार है कि संपराय बंध में एक बंध होता है या दो अथवा किस समय में जीव के एक बन्ध होता है यह समझावें ? देव

गति का वन्ध पड़ता है उस समय ज्ञानावरणी आदि अशुभ प्रकृति का वन्ध होता है या नहीं। यहाँ कुछ लोग इस प्रकार कहते हैं कि सहचारी प्रकृति को नहीं गिनना चाहिए। उन्हें इस प्रकार कहें कि गणना नहीं करना इसका क्या कारण ? तथा सहचारी विना दूसरी प्रकृति बांधता है या नहीं ? जिस समय में किसी जीव ने मनुष्य गति का वन्धन किया उस समय नीच गौत्र का वन्धन हुआ वह कौनसा वन्ध है ? प्रथम संठाण का बंध न होकर चरम संठाण का वन्ध हुआ उसका क्या कारण ? इत्यादि। पुण्य पाप वन्धन के अनेक भांगे सूत्रों एवं ग्रंथों में देखने को मिलते हैं। अब यहां कोई ऐसा कहे कि एक समय में दो लेश्या नहीं होती है तब पुण्य और पाप ये दोनों किस प्रकार बन्धते हैं ? उसका उत्तर है कि— कृष्ण लेस्या में भी चालीस शुभ प्रकृति का बन्ध होता है और अड़सठ पाप प्रकृति का वन्ध होता है, एक लेस्या में दो कर्मों का बंधन होता है जिस कारण से एक एक लेस्या के असंख्याता असंख्याता संक्लेश विशुद्ध स्थान है वहां सब लेश्याओं में समय समय पर पुण्य पाप बंधते हैं परन्तु एक नहीं बंधता। ग्यारवें, बारहवें व तेरहवें गुण स्थान में वीतराग के पाप का बंधन नहीं होता, इस कारण से कषाय हटकर शाता वेदनी का वन्ध होता है। वह वन्ध वन्ध रूप नहीं है। इसीलिए दो समय की स्थिति होती है। सर्व जीव दोनों

का बन्धन करता है परन्तु अधिकता की अपेक्षा से वह बन्धन शुभ अथवा अशुभ अर्थात् पाप पुण्य कहा जाता है जिस कारण से पुण्य पाप ऊपर पथ्य अपथ्य का दृष्टांत स्पष्ट है।

अब आश्रव तत्त्व का स्वरूप कहते हैं। आश्रव तत्त्व के दो भेद— (१) द्रव्य आश्रव एवं (२) भाव आश्रव।

यहां द्रव्य आश्रव पर तीन दृष्टांत बतलाते हैं –

(१) जिस प्रकार कुम्हार चाक के द्वारा घड़े का निर्माण करता है उसी प्रकार जीव मिथ्यात्व आदि कर्म रूप आश्रव से कर्म करता है।

(२) जिस प्रकार पुरुष चिमटे की सहायता से कांटा पकड़ता है उसी प्रकार जीव कर्म रूप आश्रव करके कर्म ग्रहण करता है।

(३) जिस प्रकार स्त्री पली (चम्मच) के द्वारा घृत ग्रहण करती है उसी प्रकार जीव कर्म रूप आश्रव करके कर्मों को ग्रहण करता है। इस प्रकार कहते कोई प्राणी जीव को भी आश्रव रूप श्रद्धे तो उसे समझाने के लिये दूसरा दृष्टांत कहा जाता है।

(१) जिस प्रकार कुम्हार (कर्त्ता) ने चाक से घड़े का निर्माण किया, उसी प्रकार जीव ने आश्रव करके कर्म ग्रहण किये। यहां कुम्हार जीव है तथा चाक और घड़ा दोनों ही अजीव है उसी प्रकार कर्त्ता तो जीव है तथा

आश्रव और कर्म दोनों ही अजीव है। (२) जिस प्रकार स्त्री तो जीव है तथा पली (चम्मच) व घृत ये दोनों अजीव है उसी प्रकार कर्त्ता तो जीव है तथा आश्रव एवं कर्म ये दोनों अजीव है।

अब भाव आश्रव पर चार दृष्टांत कहते हैं :—

(१) जिस प्रकार तालाब के लिए आव उसी प्रकार जीव के लिए आश्रव। (२) जिस प्रकार भवन के लिए द्वार उसी प्रकार जीव के लिए आश्रव। (३) जैसे नाव के लिए छिद्र उसी प्रकार जीव के लिए आश्रव। (४) जिस प्रकार सूई के छेद उसी प्रकार जीव के आश्रव। ये भाव आश्रव जीव के परिणामों की अपेक्षा से बताये हैं, परन्तु मुख्य नय से सूत्र में आश्रव को अजीव कहा है। इसलिए आश्रव को समझने के लिए फिर दृष्टांत कहते हैं :—

(१) जिस प्रकार तालाब और आव वास्तव में एक नहीं उसी प्रकार जीव व आश्रव वस्तुतः एक नहीं। ऐसा क्यों? इसका समाधान—आव पानी आने का द्वार है परन्तु पानी रहने का स्थान नहीं, ऐसे ही आश्रव पुण्य पाप आने का मार्ग है परंतु पुण्य पाप के रहने का स्थान नहीं।

(२) जिस प्रकार भवन और द्वार दोनों एक नहीं उसी प्रकार जीव और आश्रव एक नहीं, क्योंकि द्वार भवन के हैं और भवन पत्थर द्वारा निर्मित है परन्तु द्वार पत्थर का

नहीं। उसी प्रकार आश्रव भी जीव में है, परन्तु जीव धर्म रूप है और आश्रव धर्म रूप नहीं।

(३) जिस प्रकार नाव और छिद्र एक नहीं उसी प्रकार जीव और आश्रव भी एक नहीं क्योंकि नाव तो काष्ट की है परन्तु छिद्र काष्ट का नहीं उसी प्रकार जीव तो ज्ञान रूप है परन्तु आश्रव ज्ञान रूप नहीं।

(४) जिस प्रकार सूई और नांका (छिद्र) एक नहीं उसी प्रकार जीव और आश्रव एक नहीं, क्योंकि सूई तो लोहे की है परन्तु नांका (छिद्र) लोहे का नहीं, उसी प्रकार जीव तो ज्ञान रूप है परन्तु आश्रव ज्ञान रूप नहीं। श्री उववाई और प्रश्न व्याकरण आदि सूत्रों में इस प्रकार कहा है कि शुभाशुभ कर्म आश्रव आवे वह आश्रव, उन्हें जानने के लिए चार दृष्टांत बतलाते हैं :—

(१) जिसके द्वारा पानी आवे उसे नाला या आव कहते हैं उसी प्रकार कर्म आने के मार्ग को आश्रव कहते हैं।

(२) जिस प्रकार मनुष्य के आने के मार्ग को द्वार कहते हैं उसी प्रकार कर्म आने के मार्ग को आश्रव कहा है।

(३) जिस प्रकार नाव में जल आने का मार्ग छिद्र, उसी प्रकार कर्म आने का मार्ग आश्रव।

(४) जिस प्रकार सूई में डोरा आने का मार्ग सूई का नाका (छिद्र) उसी प्रकार कर्म आने का मार्ग आश्रव।

इस प्रकार कहते यदि कोई प्राणी कर्म और आश्रव को एक श्रद्धे तो उसे जीव तथा आश्रव भिन्न २ समझाने हेतु चौथा दृष्टांत कहते हैं :—

(१) जिस प्रकार पानी आने का साधन आव (नाला) है परन्तु पानी तो नाला नहीं उसी प्रकार कर्म आने का मार्ग आश्रव है किन्तु कर्म आश्रव नहीं।

(२) जिस प्रकार मनुष्य के आने का मार्ग द्वार कहलाता है, परन्तु मनुष्य द्वार नहीं कहलाता उसी प्रकार कर्म आने का मार्ग आश्रव है परन्तु आश्रव कर्म नहीं।

(३) जिस प्रकार जल प्रवेश का मार्ग छिद्र है परन्तु जल छिद्र नहीं, उसी प्रकार कर्म प्रवेश मार्ग आश्रव है परन्तु कर्म आश्रव नहीं।

(४) जिस प्रकार धागा प्रवेश के लिए नाका (छिद्र) है परन्तु धागा तो नाका (छिद्र) नहीं उसी प्रकार कर्म प्रवेश हेतु आश्रव है परन्तु कर्म आश्रव नहीं।

विशेष समझाने हेतु पांचवा दृष्टांत कहते हैं –

जिस प्रकार पानी और नाला ये दोनों भिन्न हैं उसी प्रकार कर्म और आश्रव भिन्न २ हैं। इसी प्रकार ये चार दृष्टांत जानने चाहिए। इस प्रकार भाव आश्रव जीव के परिणाम हैं, परन्तु मुख्य नय में अशुद्ध परिणाम हैं। इसलिए आश्रव जीव नहीं है वरन् अजीव है जहां काष्ट नहीं

वहां वस्त्र नहीं, जहां फटा हुआ है वहां छिद्र है उसी प्रकार जहां जीवत्व नहीं है वहां आश्रव कहते हैं। इसीलिए ठाणांग सूत्र के छट्ठे ठाणे में छः प्रकार से 'अणतवओ' अहंकारी अहितकारी होता है, यहां अहंकार में अनात्मा कहना चाहिए, जिस कारण से शुद्ध रूप है वह आत्मा ज्ञानादि रूप है एवं अशुद्ध है वह अनात्मा अज्ञान है, क्रोध, मद आदि। फिर भी वह अज्ञान जीव का परिणाम आत्मा है लेकिन अशुद्धपन से अनात्मा कहलाता है उसी प्रकार भाव आश्रव जीव का परिणाम है परन्तु अशुद्धपन से जीव का निज गुण छोड़ने योग्य नहीं है इस कारण से अनात्मा भी जीव कहलाता है। यहां पर भी दो नय (न्याय) लागू हो सकते हैं (व्यवहार नय एवं निश्चय नय) फिर तत्वज्ञ जाने।

अब संवर तत्त्व को जानने के लिए चार दृष्टांत कहते हैं—

(१) जिस प्रकार तालाब में नाले (आव) द्वारा आते हुए पानी को रोके उसी प्रकार जीव में आश्रव द्वारा आते हुए कर्म को रोके तो संवर।

(२) जिस प्रकार भवन का द्वार बन्द करे उसी प्रकार जीव के आश्रव बन्द करे तो संवर।

(३) जिस प्रकार नाव के छिद्र को बन्द करे उसी प्रकार जीव के आश्रव को बन्द करे तो संवर।

(४) जिस प्रकार सूई के नाके को रोके उसी प्रकार जीव के आश्रव को रोके तो संवर।

अब निर्जरा तत्त्व को समझने के लिए चार दृष्टांत कहते हैं—

(१) जिस प्रकार तालाब का जल रहट आदि द्वारा बाहर निकाले उसी प्रकार जीव से तपस्यादि करके कर्म रूपी जल को बाहर निकाले तो निर्जरा।

(२) जिस प्रकार भवन में से झाडू (बुहारी) आदि द्वारा झाड़ कर कूड़ा करकट निकाले उसी प्रकार जीव से तपस्यादि द्वारा कर्म रूपी कूड़ा करकट बाहर निकाले तो निर्जरा।

(३) जिस प्रकार नाव में से बर्तन द्वारा जल उलीच कर बाहर निकाले उसी प्रकार जीव से तपस्यादि द्वारा कर्म रूपी जल उलीच कर बाहर निकाले तो निर्जरा।

(४) जिस प्रकार हाथ द्वारा सूई के नांके से धागा निकाले उसी प्रकार जीव से कर्म रूपी डोरा निकाले तो निर्जरा

अब बंध तत्त्व को जानने हेतु तीन दृष्टांत कहते हैं:—

(१) जिस प्रकार तिल में तेल मिला हुआ है उसी प्रकार जीव के साथ कर्म मिले हुए हैं।

(२) जिस प्रकार दूध में घृत का अस्तित्व है वैसे ही जीव के साथ कर्म का अस्तित्व है।

(३) जिस प्रकार धातु में मिट्टी रमी हुई है उसी प्रकार जीव के साथ कर्म रमे हुए हैं।

अब मोक्ष तत्त्व को जानने के लिए तीन दृष्टांत कहते हैं—

(१) जिस प्रकार घाणी आदि साधन से तिल से तेल पृथक् किया जाता है उसी प्रकार ज्ञानादि द्वारा जीव और कर्म को पृथक् करे तो मोक्ष।

(२) जिस प्रकार बिलोवणे के साधन से दही से मक्खन पृथक् किया जाता है उसी प्रकार ज्ञानादि द्वारा जीव से कर्म पृथक् किये जावें तो मोक्ष।

(३) जिस प्रकार अग्नि आदि साधनों से धातु और मिट्टी को पृथक् किया जाता है उसी प्रकार ज्ञानादि द्वारा जीव और कर्म को पृथक् करे तो मोक्ष।

—:: चौथा द्वार समाप्तम् :—

५. परिचय द्वार

प्रथम जीव का परिचय, जीव के दो भेद, प्रथम शुद्ध जीव,जो कर्म कलंक से रहित-सिद्ध भगवान। उनका ग्यारह द्वारों से परिचय कराया जाता है। (१) गति, (२) जाति, (३) काया, (४) दंडक, (५) प्राण. (६) पर्याप्ति, (७) आयुष्य, (८) अवगाहना, (९) आगमन (आगत), (१०) गमन (गत) एवं (११) गुणस्थान से।

पहला गति द्वार—गति की दृष्टि से सिद्ध गति।

दूसरा जाति द्वार—जाति की दृष्टि से अनेन्द्रिय।

तीसरा काया द्वार—काया की दृष्टि से अशरीरी।

चौथा दंडक द्वार—दण्डक की दृष्टि से दण्डक रहित

पांचवा प्राण द्वार—प्राण की दृष्टि से प्राण सहित। प्राण के दो भेद— द्रव्यप्राण एवं भाव प्राण। भाव प्राण सब जीवों में चार होते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) ज्ञान, (२) वीर्य, (३) जीवत्व और (४) सुख।

सिद्धों में शुद्ध चेतना केवल ज्ञान रूप ज्ञान प्राण है। वीर्य प्राण से अनन्त किरण वीर्य है। जीवत्व दृष्टि से जीव सदा काल शाश्वत है। सुख की दृष्टि से निराबाध सुख है, इस प्रकार सिद्धों के ये चार भाव प्राण होते हैं।

इन मूल भाव प्राणों के उत्तर प्राण १० होते हैं वे द्रव्य प्राण कहलाते हैं।

(१) संसारी जीवों के अनन्त केवल ज्ञान तो नहीं है परन्तु मति ज्ञान की चेतना रूप पांच इन्द्रियां होती है। उन्हीं के द्वारा सब वस्तुओं की जानकारी करता है। इस कारण से ज्ञान प्राण के पांच भेद हुए।

(२) वीर्य से वह अनन्त वीर्य अन्तराय कर्म क्षय रूप वीर्य नहीं हैं परन्तु वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तीन योग की शक्ति प्रकट हुई, अतः वीर्य प्राण के तीन भेद हुए।

(३) जीवत्व–वह सदा काल जीवत्व तो नहीं परंतु आयुष्य बंधन करके जितने समय के लिए जीवित रहता है वह जीवत्व प्राण।

(४) निराबाध सुख तो नहीं श्वासोच्छ्वास आवे, खेद उत्पन्न होवे, निवृत्ति उत्पन्न होवे उतना सुख होवे वह सुख प्राण। इस प्रकार से भाव प्राणों के १० उत्तर द्रव्य प्राण हुए जो सिद्ध के नहीं हैं।

छट्ठा पर्याप्ति द्वार— पर्याप्ति के द्वारा जीव आहार इत्यादि लेने की शक्ति प्राप्त करता है, जो वीर्यान्तराय के क्षयोपक्षय से उत्पन्न होती है। पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से ६ पर्याप्ति होती है जो सिद्धों के नहीं।

सातवां आयुष्य द्वार— आयुष्य सिद्ध अनादि अपर्यवस्थित स्थिति के धनी है।

आठवां अवगाहना द्वार— सिद्धों की अवगाहना- चरम मनुष्य भव की जो अवगाहना है. उसमें से तीसरे भाग का अभाव हो उस स्थिति में कम से कम एक हाथ आठ अंगुल की और अधिक से अधिक तीन सौ तेतीस धनुष एवं बत्तीस अंगुल की।

नवां आगत द्वार— आगत- सिद्धों में एक मनुष्य की।

दसवां गत द्वार— गत- सिद्धों की गति नहीं।

ग्यारहवां गुणस्थान द्वार—गुणस्थान चउदह में से एक भो नहीं

यह सिद्धों का परिचय हुआ।

संसारी जीवों के चउदह भेद का परिचय निम्न प्रकार है :-

जीव का पहला भेद—'सूक्ष्म एकेन्द्रिय का अपर्याप्ता'

(१) गति से तिर्यंच गति, (२) जाति से एकेन्द्रिय जाति, (३) काया से पृथ्वी आदि पांच स्थावर, (४) दण्डक–बारहवां, तेरहवां, चउदहवां, पन्द्रहवां और सोलहवां, (५) प्राण से तीन प्राण १–स्पर्शेन्द्रिय बल २–काय बल ३–आयुष्य बल। श्वांस ले तो उश्वांस नहीं और यदि उश्वांस ले तो श्वांस नहीं। (६) पर्याप्ति में– १–आहार पर्याप्ति २–शरीर पर्याप्ति ३–इन्द्रिय पर्याप्ति ४–श्वांसोश्वांस पर्याप्ति पूरी नहीं आती। (७) आयुष्य–जघन्य उत्कृष्ट अंतर्मुहुर्त का (८) अवगाहना–जघन्य उत्कृष्ट अंगुली का असंख्यातवां भाग (९) आगत दो की मनुष्य एवं तिर्यंच की (१०) गत २ मनुष्य एवं तिर्यंच की (११) गुणस्थान एक – पहला।

जीव का दूसरा भेद–"सूक्ष्म एकेन्द्रिय का पर्याप्ता" (१) गति तिर्यंच की (२) जाति एकेन्द्रिय (३) काया पांच (४) प्राण–चार (५) पर्याप्ति–चार (६) दण्डक–पांच (७) आयुष्य–जघन्य उत्कृष्ट अंतर्मुहुर्त का (८) अवगाहना जघन्य उत्कृष्ट अंगुली का असंख्यातवां भाग (९) आगत–दो मनुष्य तिर्यंच की (१०) गत–दो मनुष्य तिर्यञ्च की (११) गुणस्थान–एक पहला।

जीव का तीसरा भेद–'बादर एकेन्द्रिय का अपर्याप्ता' गति आदि आगे आये हुए बोल सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्ता के अनुसार जाने।

जीव का चौथा भेद– 'वादर एकेन्द्रिय का पर्याप्ता'
(१) गति तिर्यञ्च की (२) जाति एकेन्द्रिय (३) काया-पांच (४) दंडक पांच (५) प्राण-चार (६) पर्याप्ति-चार (७) आयुष्य जघन्य– अंगुली का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन की। (९) आगत तीन–मनुष्य, तिर्यंच एवं देव गति। (१०) गत– दो– मनुष्य एवं तिर्यंच। (११) गुण स्थान–एक पहला।

जीव का पांचवां भेद—"वेइन्द्रिय का अपर्याप्ता"
(१) गति–तिर्यञ्च की (२) जाति–वेइन्द्रिय (३) काया–त्रस (४) दंडक–सत्रहवां (५) प्राण–पांच (६) पर्याप्ति–चार (७) आयुष्य–जघन्य उत्कृष्टा अंतर्मुहुर्त का (८) अवगाहना–जघन्य उत्कृष्ट अंगुली का असंख्यातवां भाग (९) आगत–दो मनुष्य तिर्यञ्च की (१०) गत–दो मनुष्य तिर्यंच की (११) गुणस्थान— दो प्रथम व दूसरा।

जीव का छट्ठा भेद— "वेन्द्रिय का पर्याप्ता"
१–गति २–जाति ३–काय एवं ४–दण्डक। ये सब वेन्द्रिय अपर्याप्ता के समान जानना चाहिये।
५–प्राण- छः ६–पर्याप्ति - पांच ७–आयुष्य- जघन्य अन्तर्मुहुर्त का, उत्कृष्ट बारह वर्ष का ८–अवगाहना-जघन्य अंगुली का असंख्यातवा भाग, उत्कृष्ट बारह योजन की ९–आगत-दो- मनुष्य व तिर्यञ्च की १०–गत-दो- मनुष्य व तिर्यञ्च की ११–गुणस्थान-एक-प्रथम।

जीव का सातवां भेद 'तेन्द्रिय का अपर्याप्ता'

१-गति-तिर्यञ्च की २-जाति-तेन्द्रिय ३-काया-त्रस ४-दंडक-अठारहवां ५-प्राण-छः ६-पर्याप्ति-चार ७-आयुष्य-जघन्य एवं उत्कृष्ट अंतर्मुहुर्त का ८-अवगाहना- अंगुली का असंख्यातवां भाग ९-आगत - दो १०-गत-दो ११-गुणस्थान - दो - प्रथम व दूसरा।

जीव का आठवां भेद 'तेन्द्रिय का पर्याप्ता'

१. गति २. जाति ३. काया एवं ४. दंडक तेन्द्रिय अपर्याप्ता के समान जाने। ५. प्राण-सात ६. पर्याप्ति-पांच ७. आयुष्य-जघन्य अंतर्मुहुर्त का एवं उत्कृष्ट उनपचास दिन का। ८. अवगाहना-जघन्य अंगुली के असंख्यातवें भाग व उत्कृष्ट तीन कोस की (१कोस=२मील) ९. आगत दो- मनुष्य व तिर्यञ्च १०. गत- दो- मनुष्य व तिर्यंच ११. गुणस्थान- एक प्रथम।

जीव का नवमां भेद 'चौन्द्रिय का अपर्याप्ता'

१. गति-तिर्यंच की २. जाति-चौन्द्रिय ३. काया-त्रस ४. दंडक-उन्नीसवां ५. प्राण-सात ६. पर्याप्ति-चार ७. आयुष्य-जघन्य उत्कृष्ट अंतर्मुहुर्त की ८. अवगाहना-जघन्य अंगुली का असंख्यातवां भाग ९. आगत - दो - मनुष्य व तिर्यंच १०. गत - दो - मनुष्य व तिर्यंच ११. गुणस्थान - दो - प्रथम व दूसरा।

जीव का दसवां भेद 'चौन्द्रिय का पर्याप्ता'

१. गति २. जाति ३. काया एवं ४. दंडक ये सब चौन्द्रिय अपर्याप्ता के समान जानें। ५. प्राण-आठ ६. पर्याप्ति पांच ७. आयुष्य-जघन्य अन्तर्मुहुर्त का उत्कृष्ट छः मास का ८. अवगाहना-जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग उत्कृष्ट चार कोस की ९. आगत-दो मनुष्य व तिर्यंच १०. गत-दो - मनुष्य व तिर्यंच ११. गुण स्थान-एक प्रथम।

जीव का ग्यारहवां भेद 'असंज्ञीपंचेन्द्रिय का अपर्याप्ता'

१. गति-चारों पावे २. जाति-पंचेन्द्रिय ३. काया-त्रस ४. दंडक-चउदह, १नारकी+१०भवनपति+१तिर्यंच पंचेन्द्रिय+१वाणव्यंतर+१मनुष्य। यहां असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय तो प्रसिद्ध है, लेकिन असंज्ञी मनुष्य की भी चउदह स्थान की उत्पत्ति है एवं देवता और नारकीय तो नहीं परन्तु असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय मरकर देवता में एवं नारकी में उत्पन्न होता है, उन्हें अंतर्मुहुर्त सीधे अपर्याप्ति समय विभंग ज्ञान उत्पन्न नहीं होवे तब तक असंज्ञी की अपेक्षा जाननी चाहिए।

श्री जीवाभिगम सूत्र की दूसरी प्रतिपति में कहा है कि—

'नेरइयाणं भंते कि सन्नी? असन्नी? गोयमा सन्निवि, असन्निवि' तथा कितने ही कहते हैं कि—देवता और नारकी असंज्ञी है, उसमें ग्यारहवां भेद नहीं मिलता, परंतु बारहवां भेद

मिलता है। क्योंकि जीव बारहवें भेद में मरण प्राप्त करता है इसलिए बारहवें से ग्यारहवें में किस प्रकार आवे ? यह बात प्रामाणिक नहीं जान पड़ती क्योंकि उस समय वह जीव देवता नारकी के भव में अपर्याप्ता होता है। इसलिए ग्यारहवां भेद, मानना युक्ति संगत लगता है। कोई इस प्रकार भी कहते हैं कि 'जहां ग्यारहवां भेद नहीं वहां बारहवां भेद भी नहीं। देवता नारकी में जीव के तीन भेद कहे गये हैं परन्तु दो भेद ही मानने चाहिए:—१. संज्ञी से आये, २. असंज्ञी से आये। परन्तु यह बात सिद्धांत के विपरीत लगती है। ऐसा करने से तो जीव के दो ही भेद हो जाते हैं, तीसरा भेद तो फिर निरर्थक ही प्रतीत होगा परन्तु सूत्र का पाठ तो इस प्रकार कथन करता है कि— 'असन्नी उववन्नगा, सन्नी उववन्नगा' इत्यादि पाठ को ध्यान में रखते हुए एकांत स्थापन करने पर सूत्र के पाठ का उत्थापन होता है। इतना ही नहीं श्री भगवती सूत्र के पहिले शतक के प्रथम उद्देश्य में भी कहा है कि— 'नारकी देवता में असंज्ञी होवे तो जघन्य १, २, ३ यावत् उत्कृष्टा असंख्याता होवे ऐसा कहा है। तथा भगवती सूत्र के छठे शतक के चौथे उद्देश्य में कहा है कि— असंज्ञी नारकी देवता में कालादेश के छः भांगे प्राप्त होते हैं' तथा श्री पन्नवणा सूत्र के तीसवें पद में कहा है कि— 'असंज्ञी नारकी देवता में अणाहारीक के छः भांगे कहे हैं' इत्यादि अनेक

स्थानों पर देवता नारकी में भी असंज्ञी कहा है। ५. प्राण आठ ६. पर्याप्ति—चार ७. आयुष्य- जघन्य उत्कृष्ट अन्तर्मुहुर्त का ८. अवगाहना—अंगुली का असंख्यातवां भाग ९. आगत-दो १०. गत-दो एवं ११. गुणस्थान-दो।

जीव का बारहवां भेद—'असंज्ञी पंचेन्द्रिय का पर्याप्ता' १. गति—तिर्यंच २. जाति—पंचेन्द्रिय ३. काया—त्रस ४. दंडक - बीसवां ५. प्राण—नौ ६. पर्याप्ति—पांच ७. आयुष्य—जघन्य अन्तर्मुहुर्त का उत्कृष्ट क्रोड़ पूर्व का ८. अवगाहना—जघन्य अंगुल के असंख्यातवां भाग उत्कृष्ट एक हजार योजन की, असंज्ञी जलचर की अपेक्षा से ९. आगत—दो १०. गत—चार ११. गुणस्थान—एक।

यहां सब स्थानों पर लब्धि अपर्याप्ता लिए हैं, करण अपर्याप्ता नहीं। सम्प्रति पर्याप्ति पूरी नहीं की परन्तु अनन्तकाल में पूरी करके मरेंगे। जो जीव अपर्याप्ता नहीं मरता है उस जीव को करण अपर्याप्ता कहते हैं वह लब्धि अपर्याप्ता नहीं कहलाता लब्धि अपर्याप्ता तो उसे कहते हैं जो पर्याप्ति पूरी किए बिना मरण प्राप्त करते हैं।

जीव का तेरहवां भेद "संज्ञी पंचेन्द्रिय का अपर्याप्ता" १. गति—चार २. जाति—पंचेन्द्रिय ३. काया—त्रस ४. दंडक—सोलह ५. प्राण—आठ ६. पर्याप्ति—चार भाषा पर्याप्ति एवं मन पर्याप्ति सब जीव साथ बांधते हैं। ये दोनों पर्याप्ति पूरी होने पर जीव पर्याप्ता कहलाता है।

इसलिये अपर्याप्ता में तो चार ही पर्याप्ति मिलती है। यहां कोई इस प्रकार कहते हैं कि-"देवता नारकी तो भाषा एवं मन साथ बांधते हैं और मनुष्य तिर्यंच तो पहिले भाषा और फिर मन पर्याप्ति बांधते हैं।" इस कारण से देवता नारकी में पांच पर्याप्ति कही है और मनुष्य तिर्यंच में छः पर्याप्ति कही है। यह कथन भ्रम और संदेह युक्त लगता है। यदि देवता नारकी भाषा, मन साथ बांधते हैं तो फिर मनुष्य तिर्यंच के पृथक कैसे बंधती है? यहां कोई इस प्रकार कहते हैं कि-"उनका ऐसा ही स्वभाव है।" तो उनसे कहिये कि अपर्याप्ता मनुष्य में दो योग नहीं कहे फिर भाषा में जीव के पांच भेद किस रीति से कहते हो? वहां भाषा किस प्रकार नहीं गिनते? श्री जीवाभिगम सूत्र में नारकी में छः पर्याप्ति कही है और मनुष्य में पांच कही है। यह सूत्र तो विरूद्ध कभी भी नहीं होता। परन्तु यहां इस प्रकार जानना चाहिए कि—"भाषा मन युगपत्" से समाप्त होता है। इस कारण से जो पांच कही वह भी सत्य और छः कही वह भी सत्य। ये दोनों अपेक्षा सत्य हैं। यहां कोई इस प्रकार कहता है कि— "भाषा व मन साथ साथ समाप्त हो तो छः पर्याप्ति नहीं कहे, परन्तु पांच ही कहें।" जिसका उत्तर— "जिम कारण से असंज्ञी में भी पर्याप्ता कहा है तो असंज्ञी मनुष्य में क्यों फेर पड़ा? मन असंज्ञी नहीं [illegible] मिले? इस कारण से असंज्ञी

में मन उथापने के लिए और संज्ञी में स्थापन के लिए छः पर्याप्ति कही। परन्तु दोनों का नाम साथ लिखने से पांच पर्याप्ति कही है। श्री पन्नवणा सूत्र के अट्ठाइसवें पद में तथा भगवती सूत्र के छठे शतक में चौथे उद्देश्य एवं भगवती सूत्र के अठारहवें शतक के पहिले उद्देश्य में व निरयावलिका सूत्र रायप्पसेणी आदि मुख्य सूत्रों में पांच पर्याप्ति कही है। इस कारण से अपर्याप्ता संज्ञी में चार पर्याप्ति कही है।

७. आयुष्य–जघन्य उत्कृष्ट अंतर्मुहुर्त का ८. अवगाहना–अंगुल का असंख्यातवां भाग ९. आगत–चार १०. गत–दो–मनुष्य व तिर्यञ्च ११. गुणस्थान–तीन। देवता, नारकी एवं युगलिया, ये लब्धि अपर्याप्ता नहीं होते। यह नियम है। इसलिये ये तीनों करण अपर्याप्ता होते हैं। इस अपेक्षा से अपर्याप्ता में १, २, ४ ये तीन गुण स्थान मिलते हैं।

जीव का चउदहवां भेद–'संज्ञी पंचेन्द्रिय का पर्याप्ता'

१. गति–चार २. जाति–पंचेन्द्रिय ३. काया–त्रस
४. दंडक–सोलह ५. प्राण–दस ६. पर्याप्ति - छः
७. आयुष्य–जघन्य अंतर्मुहुर्त का, उत्कृष्टा तेतीस सागर का
८. अवगाहना–जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्टा एक हजार योजन का, उत्तर वैक्रिय करे तो उत्कृष्टा लाख योजन की ९. आगत-चार १०. गत-पांच ११. गुणस्थान-चउदह।

इस प्रकार से गति चार, जाति पांच, काया छः, दंडक चौबीस आदि अनेक स्थानों पर ग्यारह द्वार की

विचारणा की है। स्वयं की अपेक्षा से सब जगह बारह द्वार है। इस प्रकार जीव के चउदह भेद का परिचय दिया है।

अजीव के चउदह भेद का का परिचय देते हैं—

(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से (४) भाव से (५) गुण से पांच द्वार है।

अजीव का प्रथम भेद—"धर्मास्तिकाय का स्कंध"

(१) यह द्रव्य से एक द्रव्य (२) क्षेत्र से लोक प्रमाण (३) काल से आदि अंत रहित (४) भाव से वर्ण रहित, गंध रहित, रस रहित, फरस रहित (५) गुण से चलण गुण।

अजीव का दूसरा भेद—"धर्मास्तिकाय का देश"

(१) द्रव्य से जघन्य दो प्रदेश, उत्कृष्ट असंख्यात प्रदेश यह किस प्रकार ? क्योंकि देश कोई वस्तु नहीं है, न देश की विवक्षा से माना गिना गया है। यह जघन्य एक प्रदेश तथा दो प्रदेश में, उत्कृष्टा सर्व लोक में। धर्मास्तिकाय के प्रदेश को देश कहते हैं। यहां कई एक साधारण पुरुष ऐसा कहते हैं कि—"एक प्रदेश को देश कहना असत्य है" किन्तु श्री भगवती सूत्र के ग्यारहवें शतक के दसवें उद्देश्य में लोक के प्रदेश में अरूपी अजीव के पांच भेद माने हैं:— (१) धर्मास्तिकाय का देश (२) प्रदेश (३) अधर्मास्तिकाय का देश (४) प्रदेश एवं (५) काल। इस विवक्षा से प्रदेश को देश कहा गया है इस कारण एक प्रदेश को देश कहना ठीक है। दो प्रदेश को खंध कहते हैं। (१) पुद्गल न्याय

(२) क्षेत्र से जघन्य । १–प्रदेशावगाढ़ उत्कृष्ट एक प्रदेश कम सर्वलोक अवगाहन कर रहते हैं । ३–काल से जितने समय तक चिंतन करे ४–भाव से अरूपी ५–गुण से चलण गुण ।

अजीव का तीसरा भेद—"धर्मास्तिकाय का प्रदेश" (१) द्रव्य से अपनी अपनी अपेक्षा से एक, सबकी अपेक्षा से असंख्यात (२) क्षेत्र से एक, प्रदेशावगाढ़ (३) काल (४) भाव (५) गुण–वैसे ही ।

अजीव का चौथा भेद—"अधर्मास्तिकाय का खंध" पांचवां—"देश" छट्ठा—"प्रदेश" इन्हें धर्मास्तिकाय के समान जानें, परन्तु गुण स्थिर है ।

अजीव का सातवां भेद–"आकाशास्तिकाय का खंध" आठवां–देश, नवमां–प्रदेश । खंध द्रव्य से एक, क्षेत्र से लोकालोक प्रमाण, शेष काल पूर्ववत् । गुण से विकास गुण, द्रव्य से जघन्य एक देश क्षेत्र से जघन्य एक, दो प्रदेशावगाढ़ उत्कृष्ट एक प्रदेशावगाढ़ कम । सर्वलोकालोक का अवगाहन । काल से जितने समय तक चिंतन हो । भाव एवं गुण पूर्ववत् । प्रदेश द्रव्य से अनन्त । क्षेत्र से एक प्रदेश स्वयं । काल, भाव एवं गुण पूर्ववत् ।

अजीव का दसवां भेद—"काल द्रव्य" यह द्रव्य से अनन्त द्रव्य । यह कैसे ? इसका समाधान इस प्रकार है—

अनन्त जीवों के अनन्त पुद्गल अनंतानंत पर्यायों पर

विद्यमान है, इस अपेक्षा से अनन्त द्रव्य होते हैं। क्षेत्र से ढाई द्वीप प्रमाण यह किस प्रकार ? उत्तर–ढाई द्वीप के बाहर चन्द्र, सूर्य की गति नहीं होती इस कारण दिवस रात्रि रूप, काल ढाई द्वीप के बाहर नहीं होता है, किन्तु आयुनिर्वृत्ति काल और मरण काल, ये तो सर्वलोक व्यापी है। यह किस दृष्टांत से ? जिस प्रकार मंदिर आदि में घण्टा बजता है उस घण्टे का बोलना व माप तो उस मंदिर आदि स्थान में ही होता है लेकिन वस्तु की पर्याय का पलटना तो सर्व लोक में है। फिर भी मुख्य रूप से सूत्र में–"समय खित्तए" इत्यादि वर्णन है। अर्थात् समय क्षेत्र अढाई द्वीप को माना है क्योंकि समय का प्रमाण चन्द्र सूर्य की गति से होता है जो अढाई द्वीप में ही है, इसलिए ढाई द्वीप बाहर काल नहीं। ऊंची दिशा में अजीव के ग्यारह भेद तथा नीची दिशा में दस भेद माने हैं। ऐसे ही ऊर्ध्व लोक में अजीव के दस भेद हैं और अधोलोक में ग्यारह भेद माने हैं इत्यादि कारणों से काल द्रव्य क्षेत्र से समय क्षेत्र प्रमाण मानना ही उपयुक्त है। काल से अनादि अपर्यवसित अर्थात् अनादि अनन्त है परन्तु आदेशों की अपेक्षा से सादिसांत है, क्योंकि अमुक वस्तु को एक घड़ी हो गई इत्यादि कथन आदि अन्त वाला होता है इसीलिए आदेश की अपेक्षा काल को सादि सांत माना है। भाव से अरूपी, गुण वर्तना लक्षण।

अजीव का ग्यारहवां भेद-"पुद्‌गलास्तिकाय का खंध" द्रव्य से अनंत, क्षेत्र से जघन्य एक, उत्कृष्ट अचित महा खंध की अपेक्षा सम्पूर्ण लोक अवग्रहित, काल से जघन्य एक समय, उत्कृष्टा असंख्याता, भाव से एक वर्ण, एक गंध, एक रस, दो स्पर्श सहित। कई एक में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श मिलते हैं। गुण से जो ग्रहण की जाय, गल जाय, मिल जाय, दिशा में प्रकाश करे, तपे, अंधकार करे, शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, भले से बुरा एवं बुरे से भला हो।

अजीव का बारहवां भेद– "पुद्‌गलास्तिकाय का देश" द्रव्य से अनन्त, क्षेत्र से जघन्य एक आकाश, उत्कृष्ट असंख्यात योजन का क्रोडा क्रोड़ प्रमाण। काल से जितने समय तक चिंतन हो तथा भांगे की अपेक्षा संख्यात असंख्यात काल। भाव से वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सहित गुण से ग्रहण गुण।

अजीव का तेरहवां भेद "पुद्‌गलास्तिकाय का प्रदेश" द्रव्य से अपनी २ अपेक्षा से एक और सबकी अपेक्षा से अनंत पर वह सर्व जीव राशि से अनन्त गुणा, क्रोड़ गुणा अवाठियो (अवस्थित) है। क्षेत्र से एक प्रदेश प्रमाण, काल से शाश्वत आदि अंत रहित, किसी भी समय पुद्‌गल से अपुद्‌गल नहीं होता। भाव से शब्द वर्णादि सहित रूपी, गुण से ग्रहण गुण।

अजीव का चउदहवां भेद—" परमाणु पुद्गल " एक शक्ति के अनंतवे भाग परमाणु छद्मस्थ के ग्राह्य, सब पुद्गल जाति में जैसे आकाश प्रमाण। द्रव्य से अनंत है। क्षेत्र से एक आकाश में ग्रहित। काल से जघन्य एक समय उत्कृष्ट असंख्याता। भाव से एक वर्ण, एक गंध, एक रस, दो स्पर्श मिलते हैं, एक परमाणु के सोलह भांगे होते हैं। सर्व परमाणु राशि में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श मिलते हैं। सर्व राशि के २०० भांगे होते हैं, इस प्रकार वस्तुओं के भी द्रव्यादि पांच भेद कहने चाहिए। जिस स्थान में पूंछे वहां अजीव के उत्कृष्टा ग्यारह भेद मिलते हैं परंतु किसी भी स्थान में अधिक भेद नहीं होते हैं।

पुण्य तत्त्व का परिचय :—

जीव को पवित्र करे वह पुण्य, इसके दो भेद —

१. द्रव्य पुण्य एवं २. भाव पुण्य। द्रव्य पुण्य किसे कहते हैं? याचक प्रमुख को अन्न वस्त्रादि देवे वह द्रव्य पुण्य कहलाता है तथा देने के भाव परिणामतः भाव पुण्य कहलाता है। जो परिणाम शुद्ध अध्यवसाय अरूपी है, इस परिणाम से अन्न वस्त्रादि देने की क्रिया भी जीव की प्रवृत्ति है, वीर्यांतराय के क्षयोपशम एवं दानांतराय के क्षयोपशम को भी भाव पुण्य कहते हैं। यहां देते समय जो योग्य प्रवृत्ति रहती है उसे भी द्रव्य पुण्य कहते हैं यह रूपी है, देते समय में जो

अशुभ कर्म क्षय होवे उसे निर्जरा कहते हैं। इस दान से शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, सहित अनन्त प्रदेशी खंध कर्म द्रव्य वर्गणा में से चौ प्रदेशी पुद्गल जीव को आकर लगते हैं इस प्रकार अन्योन्य कैसे होते हैं? जिन परमाणुओं को द्रव्य पुण्य कहते हैं, वे पुण्य बन्ध के समय से जघन्य अंतर्मुहुर्त उत्कृष्टा तीस क्रोड़ा क्रोड़ सागर पर्यंत जीव के पास सत्ता रूप रहते हैं इस द्रव्य पुण्य में से परमाणु अपने अपने अबाधा काल व्यतीत होने के पश्चात नियमा उदय में आते हैं, यह उदय दो प्रकार से आता है-(१) विपाक से और (२) प्रदेश से। जब पुण्य प्रकृति के परमाणु जीव के पास से समय २ में क्षीण होते हैं, परन्तु रस नहीं देवे तब उसे प्रदेशोदय कहते हैं और जब रस देकर क्षय होते हैं तब उसे विपाकोदय कहते हैं। जिस प्रकृति के उदय आने से उच्च गौत्र, धन धान्य, पुत्र कलत्र, आरोग्यता यश नाम एवं शुभ गति आदि वस्तु पावे उसे उपचार से पुण्य के फल के कारण द्रव्य पुण्य कहते हैं। इसलिये पुण्य की करणी अरूपी है और पुण्य के परमाणु चौ प्रदेशी खंध है तथा पुण्य के फल अष्ट प्रदेशी भी है यह पुण्य की करणी भाव पुण्य है, अब शेष द्रव्य पुण्य कहा जाता है। यहां कोई इस प्रकार कहे कि- "परिणाम में क्रिया को पुण्य कहा बताया है।" इसका समाधान श्री उत्तराध्ययन सूत्र के तेरहवें अध्याय में कहा है कि-"धणियं तु पुण्णाइं अकुव्व

माणो' (गाथा २१ द्वितीय पाद) इति वचनात् अर्थात् पुण्य नहीं करता हुआ जीव परलोक में पहुँचने पर पश्चाताप करता है। तथा फल का पुण्य कहां कहा है ? तो कहते हैं कि 'आया ममं पुण्ण फलोववेए'(गाथा १० चतुर्थपाद) इति वचनात्। अर्थ—मेरी आत्मा पुण्य फल युक्त है। कर्म को पुण्य कहां कहा है ? इसका उत्तर है कि श्री भगवति सूत्र के अठारहवें शतक के तीसरे उद्देश्य में 'अणंते कम्मंसे खवेइ' इति वचनात्! यह तो उपचार से पुण्य कहलाता है, परन्तु वास्तव में तो पुण्य रुपी ही होता है इसके दो भेद किस प्रकार हुए ? जिस दानादिक से शुभकर्म की प्रकृति बंधी है वह जहां तक जीव की सत्ता में है परन्तु उदय भाव में नहीं आवे वहां तक उस पुद्गल को द्रव्य पुण्य कहा है। शंका-यह कैसे ? द्रव्य तो भाव का कारण है। तथा भवी शरीर द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा से श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बाइसवें अध्याय में प्रभु नेमीनाथजी को संसार में रहते हुए भी 'लोग नाहे दमीसरे' कहा है इति वचनात्। लोक नाथ और दमीश्वर अर्थात् इन्द्रियों के दमन करने वालों में ईश्वर है। जो कि अभी तो लोक के नाथ नहीं परन्तु अनागत काल में होंगे, प्रव्रज्या लेंगे, इस कारण से द्रव्य निक्षेप से लोक नाथ कहा है। इसी न्याय से जहां तक उदय नहीं आया हो वहां तक उन परमाणुओं को द्रव्य पुण्य कहते हैं। जब उदय भाव में

आवें जीव को सुख आनन्द उपजावे तब उन्हें भाव पुण्य कहते हैं। जिस प्रकार जिन नाम दिया उन्हें भाव तीर्थङ्कर कहा इसी दृष्टान्त से ये मुख्य नय में द्रव्य पुण्य व भाव पुण्य ये दोनों रुपी द्रव्य पुद्गल कहलाते हैं। श्री आचारांग सूत्र की टीका में भी द्रव्य कर्म को अनोदय प्रकृति का द्रव्य कर्म वे कृषादि क्रिया भाव कर्म के उदय में आई प्रकृति कही है। फिर सूत्रों में कई स्थानों पर पुण्य पुद्गल को ही कहा है। जिस कारण से मुख्य नय में पुण्य को रुपी पदार्थ जानो उपचार से तो दोनों श्रद्धा योग्य है।

अब पुण्य के भेदों का परिचय कराते हैं। श्री ठाणाङ्ग सूत्र के नवमें ठाणे में कहा है कि 'नव विहे पुन्ने पन्नत्ते' तं जहा- अन्नपुन्ने जाव नम्मोकार पुन्ने' अब इनका अर्थ कहते हैं। पात्र को अन्नादि देने से तीर्थङ्कर नाम आदि पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है और दूसरे को देवे तो दूसरी पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है। यहां कई एक इस प्रकार कहते हैं कि 'ये नौ प्रकार के पुण्य तो साधुओं के लिए ही है, परन्तु अन्य की अपेक्षा से नहीं' तथा कई लोग इस तरह भी कहते हैं कि 'समकित दृष्टि की अपेक्षा से हैं किन्तु मिथ्यात्वी की अपेक्षा से नहीं' तथा कई एक इस प्रकार कहते हैं कि ' सब संसारी की अपेक्षा से है। ' इस प्रकार यहां अनेक मंतव्य जान पड़ते हैं। परन्तु निस्पृह भाव से पक्षपात रहित बन सूत्र का अर्थ विचारें तो सर्व नय की अपेक्षा रखते हैं। जैन शासन तो सात नयात्मक है।

इस कारण से नय की अपेक्षा से विचार करना योग्य है। चित्त, वित्त एवं पात्र शुद्ध निर्वद्य दान से तो एकान्त *पुण्य होता है तथा दूसरे स्थानों पर यथा योग्य पुण्य की न्यूनाधिकता समझना चाहिए।

ग्रंथों में पांच प्रकार के पात्र बताये हैं यथा (१) उत्तम पात्र–साधु (२) मध्यम पात्र–श्रावक (३) जघन्य पात्र–अव्रती सम्यक दृष्टि (४) अपात्र-मिथ्यात्वी एवं (५) कुपात्र–अनार्य हिंसक। इन पांचों में उत्तम पात्र को दान देने से एकांत पुण्य, मध्यम पात्र एवं जघन्य पात्र का दान सुपात्र दान में है, परन्तु कुछ पाप का मिश्रण है। अपात्र दान में अनुकम्पा की अपेक्षा से तथा ममता घटने की अपेक्षा से पुण्य का मिश्रण है। कुपात्र दान में एकान्त पाप है। परन्तु साधु को तो बीच वाले तीनों स्थानों के लिए मौन साधना श्रेय है। पुण्य पाप कहना अनुपयुक्त है। यहां कोई इस प्रकार कहे कि 'श्री वीतराग देव ने तो नौ प्रकार के पुण्य समुच्चय रूप से सब जीवों की अपेक्षा से बताये हैं किन्तु किसी प्रकार के भेद नहीं कहे हैं। इसका उत्तर ऐसे देना चाहिये कि यदि वीतराग देव ने नौ प्रकार के पुण्य कहे हैं तो फिर तुम अन्य गृहस्थ के दान के लिए मौन क्यों रखते हो? वहां पुण्य क्यों नहीं

---

*ग्रन्थकार ने एकान्त पुण्य बताया है किन्तु आगम वचनानुसार चित्त वित्त एव पात्र शुद्ध निर्वद्य दान से एकान्त निर्जरा होती है।

कहते हो इसका क्या कारण ? यहां कोई इस प्रकार कहे कि 'देने वाले को तो पुण्य ही होता है परन्तु साधु को पुण्य कहना कल्पता नहीं इसलिए नहीं कहते।' तो फिर उनसे यों पूछे कि यदि वीतराग देव को पुण्य कहना कल्पता है तो फिर साधु को क्यों नहीं ? पुण्य को पुण्य कहने की तो वीतराग देव की आज्ञा है तथा जो सत्तु काणविक दान में पुण्य कहने की भगवान की आज्ञा नहीं है और गृहस्थ के दान में एकान्त श्रद्धा तथा प्ररुपणा है वह भगवान की आज्ञा का विराधक है। स्वयं के कल्पित मतानुसार चलने वाले हैं। शंका— फिर सब जीवों की अपेक्षा नौ प्रकार का पुण्य एकान्त है। ऐसा कहने वाले से पूछना चाहिए कि पुण्य सावद्य करनी से होता है या निर्वद्य करनी से ? इसके लिए वे कहते हैं कि 'निर्वद्य करनी से पुन्य बन्धता है।'

प्रश्नः—परन्तु जो सतु आदि गृहस्थ का दान सावद्य करणी है या निर्वद्य ? तब वह कहे कि सावद्य तब उन्हें ऐसा पूछें कि सावद्य करणी से एकान्त पुण्य होता है या पाप ! बुद्धिमान विचार कर निर्णय करें। यहां कोई इस प्रकार कहते हैं कि 'सावद्य तो पाप' इसलिए गृहस्थ के दान में सर्वथा पाप है परन्तु पुण्य तनिक भी पाप नहीं। ऐसा कहने वाले को कहना चाहिए कि एकान्त पाप को भी सावद्य कहा है एवं पुण्य पाप दोनों शामिल हो उनको

भी सावद्य कहा है । जिस प्रकार असत्य मिश्र भाषा दोनों सावद्य, इस न्याय से गृहस्थ के दान को एवं अनुकम्पा आदि आठ दान को पुण्य पाप दोनों ज्ञेय पदार्थ जानने चाहिये परन्तु एकान्त पाप नहीं । एकांत पाप हो तो साधु किस प्रकार रखता है ? सूत्र में तो गृहस्थ के दान के लिए साधु को स्थान स्थान पर मौन साधना कहा है । श्री सूयगडांग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्ध के ग्यारहवें मोक्ष मार्ग नामक अध्ययन में ऐसा कहा है कि 'कोई राजा धर्म की बुद्धि से सतु आदि दान देता हुआ उत्सव करवाता हुआ वह मुनिराज से पूछे कि अहो ऋषिश्वर ! इस अनुष्ठान से हमें पुण्य होता है या नहीं ?' तब साधु पुण्य है ऐसा न कहे इसमें पुण्य नहीं है ऐसा भी नहीं कहे । क्योंकि इन दोनों प्रकार की भाषा में महा भय है । यदि पुण्य कहे तो त्रस स्थावर जीवों की हिंसा लगती है यदि कहे कि पुण्य नहीं तो अन्न आदि के अर्थी (अतिथि) लोगों के अन्न पानी की अन्तराय लगे, इसलिए दान की प्रशंसा करने वाला हिंसा का भागी तथा निषेध करने वाला अगीतार्थ एवं वृत्ति छेदने वाला कहलाता है । इसलिए पुण्य है अथवा नहीं ऐसी आस्तिक नास्तिक दोनों भाषा नहीं उच्चारे अपितु मौन रहे । दोनों में से एक भाषा बोलने पर क्या होता है ? उसे पाप कर्म की प्राप्ति होती है इसलिए अविधि से बोलना छोड़े । निर्वद्य भाषा

बोलने से मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा श्री सूयगडांग' सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के पांचवे अध्याय में अनाचारी के अधिकार में देख लिया जावे।

दान गृहस्थी देवे, लेने वाला लेवे ऐसा व्यापार होता हुआ देखकर 'हां' या 'ना', गुण दोष कुछ भी नहीं कहे। यदि गुण कहे तो असंयम की अनुमोदना लगती है और दोष कहे तो वृत्ति का छेद होता है। इस कारण से दोनों भाषा नहीं बोले ज्ञानादि मोक्ष मार्ग की वृद्धि करे। अर्थात् जिस प्रकार असंयम (सावद्य) नहीं होवे वैसे बोले। ऐसा अधिकार सूत्र में कहा है वे सूत्र विरुद्ध प्ररुपणा करते हैं। यहां कोई इस प्रकार कहे कि 'दान दाता पूछे तब साधुओं को मौन करना परन्तु मन में पुण्य श्रद्धना अथवा कोई कहे पाप तो मौन एवं कोई पुण्य तो मौन, मन में दोनों ही श्रद्धे। कोई कहे साधु को मौन करना उसका फल केवली जाने, हमें मालूम नहीं। कोई कहे साधु को मौन साधना चाहिए परन्तु पुण्य पाप मिश्र कुछ भी नहीं श्रद्धे इत्यादि अनेक मत वर्तमान में दिखाई पड़ते हैं। जिन पर सूत्र के आधार से विचार कर कौन सा मत सच्चा है? उसकी परीक्षा चतुर पुरुष करे।

प्रश्न—यदि पुण्य होता है तो साधु को पुण्य को पुण्य कहने में क्या दोष है? और भगवान पुण्य को पुण्य

कहने में क्यों मना करें ? फिर सतु आदि दान में हिंसा आदि सावद्य कर्तव्य प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है अतः जैन धर्मानुयायी वहां एकान्त पुण्य किस प्रकार श्रद्ध सकता है । इस कारण से एकान्त पुण्य की स्थापना करना यह बात झूंठी जान पड़ती है और यदि सभी दानों में पाप होता है तो पाप को पाप कहने में साधु को क्या दोष है ? और भगवान ने पाप कहने के लिये क्यों मना किया ? तथा जो दान देते है वहां दया प्रमुख शुभ भाव उत्पन्न होता दिखाई देता है एवं जो वस्तु देता है उससे लाभ प्रधान है, वहां एकान्त पाप किस प्रकार होता है । श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र के दूसरे आश्रव द्वार में दान का निषेध करे उसे झूठ बोलने वाला कैसे कहा ? फिर तीसरे संवर द्वार में दान की अंतराय देवे उसे चोरी करने वाला कैसे कहा ? इत्यादि कारणों से एकांत पाप की श्रद्धना करना सूत्र न्याय से मिथ्या असत्य लगता है और जो ऐसा कहे कि इसके फल की हमें खबर नहीं उनके हृदय में अंधकार दिखाई पड़ता है । जो इतनी बात नहीं समझ सकता वह चारित्र किस प्रकार पालेगा ? तथा कोई इस प्रकार कहे कि साधु को तो मौन ही रहना युक्त है, पुण्य पाप मिश्र इत्यादि कुछ भी नहीं श्रद्धना योग्य है, ऐसे कहने वाला नास्तिकवादी दिखाई पड़ता है । भगवान ने तो सूत्र में कहा है कि 'जितनी क्रिया करे उन सबका फल

है कोई भी निष्फल नहीं।' जो निष्फल कहे वह निष्फल वादी नास्तिकमती जैन मार्ग से दूर मालूम पड़ता है। फिर तीन बातों का निषेध किया है इस दृष्टि से तो निष्फल जान पड़ता है। यदि ऐसी है तो निष्फल कहते हुए क्यों शंका करते हो इत्यादि प्रकार से विचार करते हुए ये गृहस्थियों का दान जानने योग्य पदार्थ दोनों स्थान पर मालूम पड़ता है।

श्री रायप्पसेणी सूत्र में सूर्याभ देवता ने भगवान से कहा 'मैं आपके साधुओ को नाटक दिखाऊं?' तब भगवान ने मौन रखा उसका फलितार्थ इस प्रकार है कि 'यदि हां कहें तो सावद्य लगता है एवं ना कहे तो देवता की भक्ति जाती है।' इसलिए मिश्र स्थान जानकर वीतराग देवता ने मौन साधना की। इस दृष्टि से तो गृहस्थी के दान में भी मौन ही कहा है, वह मिश्र स्थान ही है। यदि धर्म होवे तो साधु आज्ञा देवे, और पाप होवे तो निषेध करे। परन्तु यहां तो आज्ञा भी नहीं देवे, उसी भांति निषेध भी नहीं करे इस कारण तीसरा मिश्र पक्ष मालूम पड़ता है, और मिश्र स्थान में मौन साधना युक्त है। यहां तो दोनों बात प्रत्यक्ष दिखाई देती है अतः दया है वह पुण्य तथा जो ममता घटी वह भी पुण्य अन्य को देने से अन्य पुण्य प्रकृति सूत्र में कही है, उस दृष्टि से भी पुण्य है पर गृहस्थ का लेन देन सब सावद्य कार्य है। अतः श्री

उत्तराध्ययन सूत्र के नवमें अध्याय में नमीराजा ने कहा है धर्मोपकरण, चार आहार आदि एक सर्वथा सावद्य प्रवृत्ति के त्यागी साधु के दान को छोडकर दूसरे सब दान सावद्य है। सावद्य जानकर साधु ने छोडा है तथा हिंसादि प्रत्यक्ष जान पडते हैं अतः पाप भी है, इस वास्ते दोनों बात जानी जाती है तथा कोई इस प्रकार कहे कि धर्म अमृत है तथा पाप जहर है, परन्तु दोनों के सम्मिलित खाने से मृत्यु होती है, उसी प्रकार पुण्य पाप करने से भी जानना चाहिये इस प्रकार कहने वाले के लिए उत्तर है कि यह दृष्टान्त असत्य है, श्रावक मिश्र पक्ष में है वह डूबेगा फिर साधु को सकषायी कहा है, पाप के नाम से बुलाया वह किस प्रकार डूबेगा ? इसलिए यह दृष्टान्त तो जहां एकान्त पाप का कार्य हो अल्प मात्रा पुण्य का मिश्रण हो वहां मिल सकता है पर सब स्थानों में नहीं मिल सकता है। अतः श्री भगवती सूत्र के ८ वें शतक के छट्ठे उद्देश्य में साधु को असूझता देने से पाप स्वल्प एवं निर्जरा अधिक कही है। इसलिए कई लोग इस पाठ को मिथ्या कहते हैं, अतः वे सिद्धान्त पाठ के उथापक होने के कारण निह्नव हो सकते हैं. यहां कोई प्रश्न करे कि यह पाठ आचार्यों द्वारा प्रक्षेपित है अतः पाठ कैसे सत्य हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि यदि सूत्र में ऐसी शंका करे तो शंका

करने वालों को दुर्लभ बोधी एवं निह्नव जानना चाहिये। पूर्वाचार्यों ने भी ये सब ज्ञेय पदार्थ मिश्र में कहे हैं। श्री सूयगडांग सूत्र के अठाहरवें अध्याय में तीन पक्ष बतलाये हैं जिसका विवेचन श्री पार्श्वचन्द्र सूरीजी ने और श्री अभयदेव सूरीजी ने इस प्रकार किया है :—

(१) धर्म पक्ष–पांच महाव्रत, गृहस्थ के बारह व्रत, श्रावक की ग्यारह पडिमा, भिक्षु की बारह पड़िमा, ब्रह्मचर्य की नवबाड़, पच्चीस भावनायें, बत्तीस योग संग्रह इत्यादि पदार्थ धर्म पक्ष में हैं और (२) सात भय, आठ मद, सत्रह प्रकार का असंयम, बीस असमाधि के स्थान, इकीस सबल दोष, अठारह पाप स्थान, पांच मिथ्यात्व, तीस महामोहनी के स्थान इत्यादि पदार्थ अधर्म पक्ष में है। (३) गृहस्थी का दान, चारित्र का महोत्सव, दीक्षोत्सव, स्वामिवत्सलादि सब कार्य जिनमें साधु विधि निषेध नहीं करे वे सब कार्य मिश्र पक्ष में हैं।

चरितानुवाद की अपेक्षा (१) अनेक पुरुषों ने चारित्र लिया, तपस्या की, पड़िमा का आराधन किया ये सब धर्म पक्ष में है। (२) दुख विपाकी जीव ने जो पाप किये, गोशालक ने दो साधुओं को जलाया, कोणिक राजा तथा चेड़ा राजा ने संग्राम किये ये सब अधर्म पक्ष में है।

(३) भगवान के पधारने पर राजा ने नगर सजाया तथा वंदना करने गया, प्रदेशी राजा ने दान शाला बनवायी, चित्त सारथी ने राजा प्रदेशी को प्रतिबोध दिलाने हेतु रथ का प्रयोग किया, सुबुद्धि प्रधान ने पानी का उपाय कर जितशत्रु राजा को प्रतिबोधित किया, प्रभु मल्लिनाथ जी ने ६ राजाओं को प्रतिबोध देने के लिए मोहन घर बनाया, सूर्याभ आदि देवताओं ने वीतराग प्रभु के सामने नाटक किया, कृष्ण वासुदेव ने थावच्चा पुत्र की दीक्षा के समय उत्सव की घोषणा करवाई, श्रेणिक राजा ने उद्-घोषणा करवाई, शंख पुष्कली श्रावकों ने स्वामिवात्सल्य किया, भगवान महावीर के पधारने पर कोणिक राजा ने बधाई बांटी इत्यादि अनेक चरितानुवाद मिश्र पक्ष में हैं। इन्हें जानना योग्य कहा है। जैसे एकान्त हेय भी स्थापना (प्ररुपणा के) योग्य नहीं वैसे एकान्त उपादेय भी उथापने अर्थात् निषेध योग्य भी नहीं। इसी भांति दस दान में भी ऐसा ही समझे. आठवां दान धर्म पक्ष में तथा सातवां दान अधर्म पक्ष में, शेष आठ दान मिश्र पक्ष में है। साधु के दान को छोड़कर यदि अन्य सब दानों में पुण्य होता तो नौ दानों को धर्म दान क्यों नहीं कहा ? तथा एकान्त पाप होता तो नौ दान को अधर्म क्यों नहीं कहा ? इस कारण से ज्ञेय पदार्थ उभय पक्ष में है और जो सर्वथा

पुण्य कहते हैं उनको इस प्रकार पूछना चाहिये कि 'वीतराग प्रभु ने समुच्चय अन्न पुण्य कहा है वहां पुन्य के भेद नहीं किये हैं. लेकिन विचारक व्यक्ति हृदय से विचार नहीं करे तो क्या पक्का हुआ देने से पुण्य है ? या अपक्व देने से पुण्य है ? अथवा सूझता देने से, या असूझता देने से कहां कहां पुण्य है ? इसके उत्तर में वे ऐसा कहे कि " भगवान ने समुच्चय जीवों की अपेक्षा पुण्य कहा है परन्तु वहां भेद नहीं किये हैं.जहां जहां भगवान ने पुण्य कहा है उन सब स्थानों में पुण्य है वहां पाप नहीं इसलिए पुण्य ही है । भगवन् ने अन्न पुण्य आदि कहा है परन्तु अन्न मिश्र आदि नहीं कहा तथा पाप भी नहीं कहा इसलिए पुण्य ही है उन्हें यों कहे कि भगवन् ने सावद्य करणी में एकान्त पुण्य कहा है परन्तु भेद (विगत) नहीं करे तो 'लयण पुण्य' नया स्थान आरम्भ करके मिथ्यात्वी कर देवे उसे एकान्त पुण्य होवे ? वृक्ष काटकर सयन हेतु पाट पाटला आदि बनाकर देवे, वस्त्र धोकर देवे, रंग कर देवे, मन से आर्तध्यान ध्यावे वहां पुण्य किस प्रकार हो ? वचन से असत्य भाषण करे, काया से हिंसा करे, मिथ्यात्वी को नमस्कार करे इन सब स्थानों पर पुण्य किस प्रकार कहा है ? यदि मन पुण्य से सर्वत्र पुण्य हो तो सब को अन्न देने से भी हो, और यदि मन

निर्वद्य से पुण्य हो तो फिर अन्न पुण्य भी निर्वद्य से हो। जिनको नमस्कार करने से पुण्य उनको अन्न देने से भी पुण्य, ये नौ पुण्य समान हैं, इसलिए सर्वत्र पुण्य का मिश्रण है। कहीं थोडा कहीं बहुत। इस कारण से पुण्य के अपेक्षा से अन्य दूसरे को देने से अन्य पुण्य प्रकृति कही है परन्तु एकान्त पुण्य नहीं, क्योंकि यदि सब को देने से एकान्त पुण्य होवे, तो फिर पात्र कुपात्र की क्या विशेषता ? माधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, मिथ्यात्वी आदि सभी समान हो जावे ? गुण का कारण ही नहीं रहा ! तथा सूझता, असूझता, सचित, अचित सब समान हुए। इत्यादि परिस्थितियों का विचार करने पर उनका कथन नहीं मिलता है अन्य कोई इस प्रकार कहे कि 'साधु को छोड़ दूसरे सब दानों में पाप है उनका भी एकान्त सूत्र विरुद्ध कथन है। इसलिये साधु को छोड़कर सब दूसरे दानों में पाप कहा है। उसने दान का उत्थापन किया और दान उत्थापन करे उसे मिथ्याभाषी एवं अन्तराय देने वाला कहा है।

श्री भगवती सूत्र के पांचवें शतक के छट्ठे उद्देश्य में वस्तु विक्रेता को जब तक किराना नहीं दिया हो तब तक भारी क्रिया लगती है, और किराना देने से हल्की क्रिया लगती है, रुपया लेने से रुपये की भारी क्रिया लगती है ऐसा

कहा है देखो लोभ के निमित्त से वस्तु दीवी उस वस्तु की क्रिया हल्की, उसके देने से लाभ होवे तो फिर अनुकम्पा के निमित्त दया के परिणाम से दान देवे उसे एकान्त पाप किस प्रकार होवे ? जितनी जितनी ममता हटी उतना उतना पुण्य ही है और यदि पाप है तो आनन्द आदि श्रावकों की पडिमा वहन करते भगवान ने क्यों मना किया ? एक व्यक्ति तिरे तथा दो व्यक्ति डूबे ऐसी क्रिया भगवान कैसे बतावे ? तथा दूसरों को डूबाने से स्वयं किस तरह तिरे ? इसीलिये पाप नहीं कहा है।

यदि देने से एकान्त पाप ही होता हो तो प्रदेशी राजा ने दान शाला कैसे खुलवाई ? केशीकुमार मुनि ने निषेध क्यों नहीं किया ? तथा अम्बड़ श्रावक दातार को पाप लगना जानता तो फिर सौ (१००) घर पारणा कैसे करता ? क्या एक ही घर पारणा करने पर कार्य नहीं चलता ? क्यों व्यर्थ में सौ घर वालों को पाप लगाता ? सभी दानों में यदि पाप की श्रद्धा करे तो उसके हृदय में अनुकम्पा नहीं है। पर परिणाम दुष्ट होने मात्र से पाप नहीं कहें।

पडिमाधारी आदि श्रावक के दान का वर्णन सूत्र मे स्थान स्थान पर मिलता है, उनका न्यूनता युक्त (कसर सहित) दान धर्म दान में बताया है वहां गृहस्थ को देना

लेना अव्रत में है यही न्यूनता है। परन्तु बाहुलता की अपेक्षा धर्म है, सूत्र मे पडिमाधारी श्रावकों को 'समण भूत' कहा है। यदि जो कसर सहित धर्म दान में नहीं माने उन्हें इस प्रकार पूछे कि इन दस दानों में कौनसा दान है. यह कहो! इसे कितने ही धर्म दान के अन्तर्गत लेते हैं, परन्तु यह बात ठीक नहीं जंचती। यदि धर्म है तो फिर एकांत आज्ञा क्यों नहीं दी? ऐसा प्रश्न उठे तब कहे कि हमारा कल्प नहीं। तब उन्हें पूछे कि, धर्म का कल्प नहीं? तब कहे कि स्थविर कल्पि, जिनकल्पि को नहीं देवे यह कैसे? उनसे इस प्रकार कहे कि कल्प नहीं परन्तु देने में धर्म जानते हैं और देने की आज्ञा देते हैं। और कारण उपस्थित होने पर देते भी हैं, परन्तु श्रावक तो दोनों ही करे। इस कारण से एकान्त धर्म नहीं जाने और जो पड़िमाधारी श्रावक का दान एकान्त धर्म में है तथा पुण्य कहा जाता है, और पुण्य का जो कारण कहते हैं वह अविचारी भाषा के बोलने वाले मालूम पड़ते हैं, इस कारण वीतराग भगवान ने गृहस्थ के सभी दानों में मौन कहा तथा जिसने पुण्य का कारण कहा उनका मौन भंग हुआ। जो पड़िमाधारी को देवे उसके भी तीसरे करण में न्यूनता लगती है, तथा कई एक अधर्म दान का पालन करते हैं; श्री भगवती सूत्र के आठवें शतक के छट्ठे उद्देश्य में

असंयति अव्रती को देने में एकांत पाप कहा है, इस कारण श्रावक को लेना देना अव्रत में है इसलिए एकान्त पाप कहा है, यह बात भी नहीं मिलती, जिस कारण यहां तो गुणवंत पात्र को मोक्ष के लिये देंगे उसको एकान्त पाप कहा परन्तु अन्य श्रावक के दान का तथा अनुकम्पा दान का यहां अधिकार नहीं। अनुकम्पा दान " जिण हो नकयाइ पडिसाई " ऐसे कहा गया है। सातवां दान तो गणिका आदि का है। अतः गणिका तथा पडिमाधारी श्रावक किस प्रकार हो ? पात्र कुपात्र की क्या विशेषता ? अतः पड़िमाधारी श्रावक का दान सातवें दान में नहीं मिलता है।

कितनेक इस प्रकार कहते हैं कि "शेष आठ दान में है।" उनसे पूछे कि पड़िमाधारी प्रमुख को देने में कौनसा गुण ? अनुमोदन हेतु देते हैं या अनुकम्पा लाकर देते हैं अथवा डर कर देते हैं या अहंकार से देते हैं या मोग से देते हैं या उन पर उपकार करने के लिए देते हैं ? इत्यादि कारणों से नहीं अपितु यहां तो केवल गुणों की अनुमोदना के लिए देते हैं, यदि दूसरे कारणों की अपेक्षा से देवे तो आठ दान में मिले और यदि गुणों के अनुमोदन हेतु देवे तो आठ दान धर्म में मिलेंगे। परन्तु आठ दान तो संसारी के हैं मिथ्यात्वी है। आठ दान में सुपात्र नहीं परन्तु श्रावक सुपात्र में है। सूत्र में

स्वामिवच्छल प्रभावना को समकित का आचार कहा है, श्री ठाणांग सूत्र में चतुर्विध संघ में श्रावक को रत्न का पात्र कहा है। एवं श्री भगवती सूत्र में श्रावक को रत्न की माला समान कहा है, परन्तु आठ दान वाले को रत्न का पात्र व रत्न की माला के समान नहीं कहा। यहां कोई कहे कि 'उसको सूझता देने से अठारह पाप में से कौनसा पाप लगता है ? क्योंकि उन्नीसवां पाप तो है नहीं' उनसे ऐसा कहें कि 'गृहस्थ को साधु आने जाने के लिए कहे तो अट्ठारह पाप में से कौनसा पाप लगता है ? तब वे कहे कि गृहस्थ को आने को किस प्रकार कहे ? तो उसके दान में पुण्य किस प्रकार कहे ? आने जाने की कहने से उसके पाप की अनुमोदना होती है। इसी प्रकार दातार को भी पाप की अनुमोदना आती है। क्योंकि लेना देना दोनों अव्रत में है।

प्रश्न होता है कि पड़िमाधारी पांचवें गुणस्थान में है या छट्ठे गुण स्थान में ? इसके उत्तर में कहे कि छट्ठे गुण स्थान में नहीं। तो पांचवें गुणस्थान वाले को देने से सावद्य पुण्य है, निर्वद्य नहीं, इसलिए वह दान में किस प्रकार सम्मिलित हो ? तथा चतुर्विध संघ के हित वात्सल्य से सनत्कुमार इन्द्र हुआ ऐसा कहा परन्तु आठ दान से हुआ ऐसा नहीं कहा, वह धर्मदान में है यहां श्रावक को

एकान्त धर्म पक्ष में नहीं कहा, अतानाति कहा इसलिए कसर (न्यूनता) में मिलेंगे दूसरे में नहीं, तथा साधु का दान तो संयम का आधार है। इसलिए वह धर्म है। श्रावक का दान संयमा संयम का आधार है यहां संयम बहुत है अतः यह ज्ञेय पदार्थ है तथा आठ दान मिथ्यात्वी के हैं वे असंयम के आधार है, इसलिए वे पाप में ही है, वहां अनुकम्पा आदि जो उत्पन्न होती है, वह धर्म का कारण है इस कारण पुण्य भी है, कार्य में पुण्य पाप दोनों लगते हैं।

समय की अपेक्षा सब साधु धर्म पक्ष में है तथा उसका दान भी धर्म पक्ष में है, श्रावक धर्माधर्म पक्ष में है उसका दान भी धर्माधर्म पक्ष में है, किसी २ सूत्र में श्रावक को धर्म पक्ष में लिया है, उस अपेक्षा से उसका दान भी धर्म पक्ष में है और क्रिया का करने वाला मिथ्यात्वी, वह भी मिश्र पक्ष में कहा गया है उसका दान भी मिश्र पक्ष में ही है। परन्तु निश्चय नय से उसे अधर्म पक्ष में गिना है, इस अपेक्षा से उनका दान भी अधर्म पक्ष में है, आर्द्र कुमार ने कहा, ब्राह्मणों तुम्हें जिमाने से नर्क में जाता है' फिर उत्तराध्ययन सूत्र के १४ वें अध्याय की १२ वीं गाथा में भृगु पुरोहित के पुत्रों ने इस प्रकार कहा "भुत्ता दिया, निंति तमं तमेणं" इति वचनात् और कुपात्र तो निश्चय व्यवहार दोनों अपेक्षा से अधर्म पक्ष में ही है,

उसका दान भी १५वें कर्मादान में है सातवें अधर्म दान में है। जो श्रावक को नमस्कार करे वह भी इसी प्रकार है। ये ९ पुण्य समान हैं। तथा कोई इस प्रकार कहे कि नमस्कार तो पंच पदों को ही करना चाहिये शेष नमस्कार मिथ्यात्वी की करणी है, अतः श्रावक को नमस्कार किस प्रकार करें।

उसका उत्तर है कि एक अपेक्षा से श्रावक पांच पद में है क्योंकि साधु सर्व की अपेक्षा से २७ गुण धारी है, तथा देश अपेक्षा से २७ गुण श्रावक में भी मिलते हैं इस कारण गुण की अपेक्षा से पांच पद में है, और यदि श्रावक के विनय में पुण्य हो तो साधु क्यों नहीं करे? तब कहे कि आर्या को क्यों नहीं करे? ऐसे प्रश्नकर्त्ता को ऐसा कहे कि साध्वी को सदा भाव से वन्दना करते हैं, परन्तु छोटे बड़े का व्यवहार रखने हेतु द्रव्य से वन्दन न करे, परन्तु श्रावक को तो भाव से वन्दना नहीं करे इसलिये पुण्य नहीं कहना चाहिये, यदि श्रावक के विनय में पाप हो तो भगवान ने श्रावक का विनय मूल धर्म कैसे कहा? फिर श्री भगवती सूत्र में उत्पला श्राविका ने पुष्कली श्रावक को वन्दना क्यों की? फिर भगवान के मुख के सामने शंखजी पर क्रोध करते हुए भगवान ने मना किया, पाप जानकर निषेध किया। इसलिए यदि वन्दना करने में पाप होता तो मना क्यों नहीं किया, पाप करते हुए को रोके तो यह साधु का आचार है, इस कारण से

श्रावक को वन्दन करना पाप नहीं है। फिर अंबडजी के शिष्यों ने अंबड़जी को वन्दना क्यों करी। सूत्र में स्थान स्थान पर स्वधर्मी का विनय करना कहा है। चतुर्विध संघ के विनय में वहुत गुण फरमाये हैं, इसलिये विनय का निषेध नहीं करें। श्रावक तो वड़ी वात है पर सूत्र में तो देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च इन तीनों के विनय करने में भी वहुत सुख कहा है, तथा जो माता पिता का विनय करे तो चवदह हजार वर्ष के आयुष्य वाले देवता मे उत्पन्न होवे इसलिये विनितपन का जितना प्रभाव हो उतने सब जीवों के गुण है और सब जीवों के समय समय पर पुण्य का वन्ध होता है, एवं पुण्य की करणी तो नौ प्रकार की है इस कारण जितने देने के, विनय के तथा अनुमोदन के गुण व शुभ परिणाम इन सबसे निश्चय पुण्य बंधता है। मिथ्यात्व की करणी करते हुए भी पुण्य का मिश्रण है। पंचाग्नि साधन करने में हिंसा होती है वह पाप है, परन्तु काया क्लेश तो अकाम निर्जरा एवं पुण्य होता है, तथा बारहवें अतिथि संविभाग व्रत में अहंकार भाव से दान देवे उसे अतिचार कहा है, वहां दो स्वरुप है, तथा श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक के दशवें उद्देश्य में कहा है कि आग बुझावे (होलवे) वह अल्प कर्मी तथा आग लगावे वह भारी कर्मी इस कारण जीव रक्षा के भाव में पुण्य प्रकृति का

बंध कहा है तो भी दो रुप प्रत्यक्ष ही जाने जाते हैं तथा निश्चय नय से श्री अनुयोग द्वार सूत्र में संसारी विनय में अप्रशस्त पन कहा है. इसलिए एकान्त पक्ष नहीं लेना चाहिये। यह नौ प्रकार के पुण्य का परिचय कहा है।

पाप तत्त्व का परिचयः—यहां पाप के दो भेद— १ द्रव्य पाप तथा २ भाव पाप। दोनों का परिचय पहिले जिस जीव के मोहनी कर्म की छब्बीस प्रकृति बांधी हुई सत्ता में थी उनके उदय में आने पर पाप करने की मति उत्पन्न होती है, इसलिए कर्म के उदय से पाप के परिणाम उत्पन्न होते हैं उस कर्म को द्रव्य पाप कहते हैं। यह चौस्पर्शी पुद्गल है। इसके उदय से जीव के जो हिंसा करने तथा झूंठ बोलने इत्यादि अशुभ परिणाम उत्पन्न हुए वे अशुभ अध्यवसाय से भाव पाप कहे जाते हैं। वे अरुपी है। इस परिणाम से जो जीव हिसादि क्रिया करे वे क्रिया के योग प्रवर्तने की अपेक्षा से द्रव्य पाप कहे जाते हैं, आरम्भ में अष्ठस्पर्शी है वह भी एक अपेक्षा से पाप कहा जाता है, क्रिया करने से जो सात आठ कर्म के अशुभ वर्णादि सहित अनन्त प्रदेशी स्कंध जीव के आकर लगते हैं, वे पुद्गल चौस्पर्शी है उन्हें भी द्रव्य पाप कहा जाता है। जिस प्रकृति के उदय आने से जीव को नीच गोत्र, धन धान्य, नाश, दुख दारिद्र अशाता उत्पन्न होवे वे पाप के फल हैं।

नय की अपेक्षा विचार करने पर तो धन धान्यादि, सोना, चांदी प्रमुख नव विध द्रव्य परिग्रह कहलाता है. परिग्रह पाप है, इस अपेक्षा से धन धान्यादि द्रव्य परिग्रह भी आठ स्पर्शी कहलाता है, यदि परिग्रह को एकान्त पाप कहा जाय तो भरत चक्रवर्ती को आभूषण पहने हुई अवस्था में केवल ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? क्योंकि पाप के रहते केवल ज्ञान उत्पन्न होता नहीं, इस अपेक्षा से द्रव्य परिग्रह से कैवल्य ज्ञानादि वस्तु नहीं रुकती है, यहां ममत्व भाव को परिग्रह कहा है। ममत्व भाव से केवल ज्ञानादि वस्तु रुकती है, द्रव्य परिग्रह से दूसरे साधु संभोग नहीं करते हैं, द्रव्य लिंग रहित साधु को देवता भी वन्दन नहीं करते हैं, जिस प्रकार अन्य लिंग में गृहस्थी के वेष में ज्ञान उत्पन्न होता है देवता साधु के उपकरण देवे, उन्हें पहिनने पश्चात् देव वन्दना करे, इसलिए द्रव्य को भी एक अपेक्षा से परिग्रह में गिना जाता है, यह औपचारिक नय कहलाता है।

मुख्य नय की अपेक्षा जीव घात आदि करने से जो अशुभ कर्म बांधे, वे चौस्पर्शी पुद्गल परिणामिक भाव में रहते द्रव्य पाप कहलाते हैं और जब उदय में आवे तब वे भाव पाप कहलाते हैं। सूत्र में स्थान २ पर अठारह पाप को चौस्पर्शी कहा है इस अपेक्षा अजीव परिणाम जानने

चाहिये अठारह पाप स्थान के नाम तथा अर्थ प्रसिद्ध है, वे ग्रंथ भार भयान्नास्मोमिः लिख्यते' इति पाप तत्व का परिचय ।

आश्रव तत्व का परिचय—आश्रव के दो भेद—१ द्रव्य आश्रव तथा २ भाव आश्रव । इनमें द्रव्य आश्रव किसे कहते हैं ? पूर्व में जीव ने मिथ्यात्व मोहनीय आदि मोहनी कर्म की छब्बीस प्रकृति बांधी है उनको द्रव्य आश्रव कहते हैं । इन प्रकृतियों के प्रयोग से जीव के अध्यवसाय उत्पन्न हो वे भाव आश्रव कहलाते हैं । उन भाव आश्रव के योग से नये शुभाशुभ कर्म आते हैं उन आते हुए कर्मों को श्री उववाई सूत्र तथा प्रश्न व्याकरण सूत्र में द्रव्य आश्रव कहा है । यहां कोई कहे कि द्रव्य मिथ्यात्व, द्रव्य योग अजीव पुद्गल है परन्तु आश्रव नहीं, यह बात विरुद्ध लगती है, यदि द्रव्य आश्रव नहीं गिनते तो योग आश्रव किस प्रकार कहते हो ? मिथ्यात्व आश्रव किस प्रकार कहते हो भाव मिथ्यात्व क्यों नहीं कहते हो ? यदि योग आश्रव कहते हो तो द्रव्य योग आश्रव होगा या भाव योग आश्रव ? तथा कोई कहे कि द्रव्य आश्रव है पर गिना नहीं जाता । उन्हें यों कहे कि यदि द्रव्य आश्रव है तो क्यों नहीं गिना जाता ? तथा कोई कहे कि "द्रव्य भाव आश्रव तो है परन्तु आते हुए कर्म वे आश्रव नहीं, यहां

श्री आचारांग सूत्र के पच्चीसवें अध्याय में ओघ के दो भेद किये हैं:- द्रव्य ओघ पानी का प्रवाह तथा भाव ओघ मिथ्यात्वादि के कर्म जल का प्रवाह आवे वह फिर श्री भगवती सूत्र के तीसरे शतक के तीसरे उद्देश्य में मंडित पुत्र को कहा कि " जिस प्रकार छिद्र सहित नाव पानी में चलावे तब वह नाव छिद्र के द्वारा (आश्रव द्वार) पूरी भरकर पानी में नीचे बैठ जाती है।" इसी आते हुए कर्म को आश्रव कहा है। दरवाजे (छिद्र) से नाव भरती नहीं नाव तो पानी से भरती है उसी प्रकार जीव भी अशुभ भाव के भार से भारी नहीं होता अपितु नये कर्म रुप आश्रव आवे उनसे भारी होता है इसलिए आते हुए कर्मों को आश्रव कहते हैं। आते हुये कर्मों को आश्रव नहीं गिने तो भगवती सूत्र के पाठ की उत्थापना होती है, इसलिए आते हुए कर्मों को भी आश्रव मानना चाहिये। द्रव्य आश्रव के उदय से भाव आश्रव उत्पन्न होता है, एवं भाव आश्रव से द्रव्य आश्रव उत्पन्न होता है। यहां अंडे एवं मुर्गी का दृष्टान्त समझने के लिए उपयुक्त है।

आश्रव के पांच भेद मिथ्यात्व:-पहिले जीव ने मिथ्यात्व मोहनी कर्म का बंध किया वह द्रव्य मिथ्यात्व उसके उदय से अतत्त्व में तत्त्व की बुद्धि, तत्त्व में अतत्त्व की बुद्धि ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे मिथ्या दृष्टि कहते

है। भाव मिथ्यात्व–जिसके उदय से शुभाशुभ क्रिया करे, उनसे शुभाशुभ कर्म आवे उसे अप्रत्याख्यानी की चौकडी कहते हैं तथा अव्रती कहलाता है और एक अपेक्षा से प्रत्याख्यानी को भी कहते हैं। अप्रत्याख्यानी की चौकड़ी का उदय चौथे गुणस्थान तक है। इसलिए चौथे गुणस्थान वाले को असंयती, अव्रती, अपच्चक्खाणी एवं अधर्मी कहा है। इसके आगे पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानी नहीं कहलाता है। श्री भगवती सूत्र के पहिले शतक के दूसरे उद्देश्य में पांचवे गुणस्थान में अव्रतिगढ़ कहा है तथा पन्नवणा सूत्र में पांचवें गुणस्थान में अपच्चक्खाणी क्रिया कही है। पांचवां गुणस्थान व्रताव्रती, धर्माधर्मी, पच्चक्खाणा-पच्चक्खाणी, बाल पंडित, सुप्त जागृत, संयता संयति कहलाता है तथा श्री भगवती सूत्र में अव्रत की क्रिया लगना कहा है। कर्म ग्रंथ आदि ग्रंथों में भी श्रावक के ग्यारह अव्रत कहे हैं एक त्रस की टाली है, छट्ठे गुणस्थान से अप्रत्याख्यानी एवं प्रत्याख्यानी चौकड़ियां नहीं, इसलिए व्रती, धर्मी, संयति पच्चक्खाणी, पण्डित एवं जागृत कहलाता है शेष नौ नो कषाय एवं संज्वल की चोकड़ी रहती है, उसे अव्रत नहीं कहते हैं, इसलिए साधु के कार्यों मे अव्रत नहीं, साधु जो उठना, बैठना, हिलना, चलना भोजन एवं भाषा प्रमुख क्रिया करते हैं वे सब प्रमाद कषाय योग के उदय से हैं अतः वे आश्रव है,

निश्चय में छोड़ने योग्य है, योगों का सब व्यापार छोड़ने से मोक्ष जायेंगे, इस कारण से कितने लोग इस प्रकार कहते हैं कि साधु का आहार व्रती में है, यह बात प्रमाण नहीं लगती अतः व्रत का त्याग नहीं करना चाहिये। बल्कि आहार का त्याग करना चाहिये। व्रत तो बहुत करने चाहिए तथा करते हुए हर्षित होना और करने के बाद भी अनुमोदना करते रहना। किन्तु आहार अधिकाधिक नहीं करना चाहिए। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के सत्रहवें अध्याय में पाप श्रमण कहा है। आहार करते हुए हर्षित नहीं होवे यदि हर्षित होवे तो चारित्र को अंगारे के समान करता है (सैंतालिस दोषों में से मांडला के ५ दोषों में कहा है)तथा अनुमोदन भी नहीं करे; व्रत करते समय तो इस प्रकार माने कि मैं धन्य हूँ जो व्रत अंगीकार कर रहा हूँ। और जो दूसरे महापुरुष व्रत अंगीकार करते हैं वे भी धन्य है, ऐसा चिंतन करे परन्तु आहार करते समय ऐसा चिंतन नहीं करे।

साधु आहार करते समय ऐसा चिंतन करे कि जो महापुरुष आहार का त्याग करते हैं वे धन्य हैं मैं भी जिस दिन आहार का त्याग करुंगा वह दिन धन्य होगा, परन्तु मेरी शक्ति क्षुधा वेदना सहन करने योग्य नहीं तथा आहार छोड़ने पर वैयावच्च आदि करने की शक्ति

नहीं इसलिए आहार कर रहा हूँ, ऐसा चिंतन करते हुए आहार करे। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छब्बीसवें अध्याय में कहा है कि मुनि छः कारण से आहार करते हैं परन्तु व्रत किस कारण से नहीं करे? व्रत तो त्याग के भांगे हैं या आहार त्याग के भांगे इनमें आहार तो भोग रूप है और व्रत त्याग रूप है फिर व्रत अरुपी है, आहार रुपी है, व्रत के दो भेद— १. देश व्रती २. सर्व व्रती इन दो में कौनसा? तथा धर्म के ज्ञानादिक चार भेद है, आहार इनमें से किस भेद में है? धर्म तो अपुद्गल किन्तु आहार पुद्गल है कोई कहे कि कूरगड्डूक ऋषि ने आहार की दुर्गंच्छा करते हुए केवल ज्ञान पाया, ढंढण ऋषि ने आहार परठते हुए केवल ज्ञान पाया, धर्म को कौन ले जाय? आहार की गृद्धता से मंगु आचार्य विराधक हुए, श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छट्टे अध्याय की आठवीं गाथा में 'दुगंच्छी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजिज्ज भोयणं' इति वचनात् अर्थात् सावद्य क्रिया की निन्दा करता हुआ पात्र में प्राप्त आहार को करें तथा श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्याय में भात के त्याग करने से अनेक भवों का नाश होता है ऐसा कहा है तथा इसी सूत्र की तीसवें अध्याय में तप करने से अनेक क्रोड़ भवों का क्षय होता है, फिर भी साधु आहार करे।

श्री ज्ञाता सूत्र में धन्नावह सेठ ने अपना कार्य साधन करने

के लिए विजय चोर को अन्न दिया उसी प्रकार साधु अपना ज्ञान दर्शन रूप निज गुण के प्राप्त करने के लिए चोर समान इस काया को आहार देते हैं जिस प्रकार उत्पलावर्चंसी के अधिकार में मलदेव राजा ने सम्पूर्ण माल का पता लगाने के लिये मंडित चोर को आहार दिया इसी प्रकार साधु भी ज्ञानादिक अधिक माल निकालने के लिए काया रूपी चोर को आहार देते हैं। फिर सूयगडांग सूत्र के सत्रहवें अध्याय में जिस प्रकार गृहस्थ भार वहन करे तब तक गाड़ी को आंगते हैं उसी प्रकार साधु इस काया से संयम भार वहन करे तब तक काया को आहार देते हैं फिर ज्ञाता सूत्र के अट्ठारहवें अध्याय में जिस प्रकार धन्ना सेठ ने राजगृही में पहुंचने के लिए सुसमा पुत्री का मांस खाया उसी प्रकार साधु मोक्ष नगरी में पहुँचने के लिये आहार करते हैं। इसलिए साधु का आहार व्रत में कहा है जो सूत्र के विरुद्ध जान पड़ता है श्री उत्तराध्ययन के १८वें अध्याय में साधु को तपोधन कहा है परन्तु खाने वाले को नहीं कहा। श्री ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में साधु का तीसरा मनोरथ—संलेहणा करुंगा आहार का जिस दिन त्याग करुंगा वह दिवस धन्य होगा इसलिए यदि आहार व्रत में हो तो ऐसा नहीं कहते फिर धर्म के दो भेद—१. श्रुतधर्म तथा चारित्र धर्म, परन्तु आहार को धर्म नहीं कहा तथा

कोई साधु के आहार को अव्रत में कहते हैं यह भी एकांत पक्ष मिलना संभव नहीं है। क्योंकि साधु के अव्रत की क्रिया नहीं रहती है, साधु सर्वव्रती है वहां अव्रत कौनसा रहा ? छट्ठे गुणस्थान में द्वादश अव्रत में से एक भी अव्रत नहीं है। श्री पन्नावणा सूत्र में अव्रत अपच्चक्खाण चतुर्थ गुणस्थान तक माना है आगे नहीं। इसी प्रकार श्री भगवती सूत्र के पहिले शतक के दूसरे उद्देश्य में तथा पन्नवणा सूत्र के सत्रहवें पद में तथा भगवती सूत्र के सोलहवें शतक के पहिले उद्देश में आहारिक निपजाता अधिकरणी उसे 'पमाय पडुच्च' कहा तथा श्री भगवती सूत्र के तीसरे शतक के तीसरे उद्देश्य में साधु को प्रमाद के योग की क्रिया मानी है। फिर श्री सूयगडांग सूत्र के अठारहवें अध्याय में अव्रत 'पडुच्च वाले आहिज्जइ' इत्यादि अव्रत मानने पर वालत्व अर्थात् अज्ञान अवस्था मानी जायगी परन्तु १३वें गुणस्थान पर्यंत वालपना (अज्ञान अवस्था) तो नहीं है, फिर सूयगडांग सूत्र के अठारहवें अध्याय में साधु को धर्म पक्ष में कहा है, पर मिश्र पक्ष में नहीं इसलिए साधु के आहार को अव्रत में नहीं कहा जा सकता। तथा कई एक साधु के आहार को प्रमाद में कहते हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं लगता हैं क्योंकि प्रमाद तो छट्ठे गुणस्थान तक ही है ऊपर नहीं परन्तु आहार तो तेरहवें गुणस्थान

तक है अतः प्रश्न होता है कि साधु का आहार किस में है? व्यवहार नय की अपेक्षा तो साधु का आहार निरवद्य है, सावद्य आहार के तो साधु के त्याग है, पाप रहित है, मोक्ष साधन का हेतु है श्री दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्याय के पहले उद्देश्य की ९२वीं गाथा में कहा है कि 'मोक्खसाहण हेउस्स साहु देहस्स धारणा' अर्थात् मोक्ष के साधन हेतु साधु शरीर की धारणा करे अतः शरीर का आधार भूत आहार धर्म का सहायक है, संयम का आश्रय है, इसलिए कारण कार्य की एकता मानकर व्यवहार नय से साधु को आहार धर्म माना गया है। तथा श्री भगवती सूत्र के सोलहवें शतक के चौथे उद्देश्य में "अन्न गलाय" श्रमण निर्ग्रंथ आहार करता हुआ नारकी का जीव सौ वर्ष में जितने कर्म तोड़ता है उससे भी अधिक कर्म तोड़ता है। श्री दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्याय में 'जयं भुजंतो भासंतो' इति वचनात् निश्चय नय की अपेक्षा साधु का आहार आश्रव में है श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्याय के १३वें सूत्र में "पच्चक्खाणेणं आसव दाराइं निरुंभइ" अर्थात् पच्चक्खाण करने से आश्रव द्वार का निरुंधन होता है, और आश्रव जानकर त्याग करते हैं, संवर के पच्चक्खाण तो कभी होते नहीं यदि आहार पाप में हो तो साधु के पाप करना नहीं, यदि धर्म हो तो साधु को छोड़ना

नहीं आगम पाठों के अनुसार साधु का आहार संयम साधना का आधार भूत सिद्ध है परन्तु आश्रव में है।

फिर श्री भगवती सूत्र के पहले शतक के तीसरे उद्देश्य में तेरह अंतराओ में कहा है। साधु पोरिसी प्रमुख प्रत्याख्यान करे, वह प्रमाद रोकने के लिये है, जो उचित है इस प्रकार छट्ठे गुणस्थान में आहार के पच्चक्खाण होते हैं वे प्रमाद रोकने के लिये हैं आगे पच्चक्खाण नहीं करते ऐसे ही साधु के उपकरण रजोहरण, वस्त्र, पात्र, मुहपति प्रमुख भी रखते हैं, वे शीत गर्मी सहन करने की असमर्थता से रखते हैं। श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र के दसवें अध्याय में 'एगंपियं संजमस्स उवत्तुहणठाए' यह भी संयम भार निर्वाह करने के लिए है, व्यवहार नय से उपकरण धर्म है तथा निश्चय नय से सब आश्रव है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नतीसवें अध्याय के ३४वें सूत्र में 'उवहि पच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणवइ' उपधि छोड़ने से पलिमंथा अर्थात् व्याघात टले तो उपधि रखने से तो पलिमंथ अथात् स्वाध्यायादि में व्याघात बढ़ता है वहां ऐसा कहा है फिर स्थान स्थान पर साधु के लिये अचेल पना कहा है, इसलिये साधु उपधि रखते हैं, वे धर्मोपरण जानकर रखते हैं और इसका त्याग आश्रव जानकर करते हैं।

यहां कोई ऐसा कहे कि आश्रव के तो पांच भेद हैं, उसमें साधु का भेद कौन से आश्रव में है ? उन्हें ऐसा कहे कि पांचवें योग आश्रव में है, चलना, उठना, बैठना, सोना, भोजन करना, भाषण करना ये छः योगों के व्यापार है। इनका असमर्थता के कारण सेवन करना पड़ता है, इनके छूटने पर मुक्ति प्राप्त होती है, आश्रव रुकते हैं। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नतीसवें अध्याय के ३७वें सूत्र में 'जोग पच्चक्खाणेणं अजोवितं जणयइ, अजोगीण जीवे नवं कम्मं न वंधइ, पुव्वबंधंच निज्जरेइ' इति वचनात् यहां मूल की अपेक्षा आहार तो योगों के व्यापार में है परन्तु इनको करते हुए आश्रव दूसरों को लगता है। जिस प्रकार श्री भगवती सूत्र के पांचवें शतक के छट्ठे उद्देश्य में किराणा वेचते हुए सम्यगदृष्टि को चार क्रिया कही मिथ्यात्वी को पांच क्रिया कही यहां व्योपार तो मिथ्यात्वी नहीं परन्तु जीव मिथ्यात्वी है इसलिए मिथ्यात्व भी लगता है। इस न्याय से केवली के आहार में योग आश्रव लगता है। प्रमादी साधु को तीन आश्रव लगते हैं, अव्रती को चार आश्रव लगते है एवं मिथ्यात्वी को पांचों ही आश्रव लगते हैं इसलिए प्रमादी साधु को आहार करते समय प्रमाद भी लगता है उसको रोकने के लिए पच्च-क्खाण करता है। कोई कहे कि भगवान ने आश्रव की

आज्ञा कैसे दी ? आहार की आज्ञा तो स्थान स्थान पर है इसका उत्तर— शुभ योग आज्ञा में है परन्तु मिथ्यात्व आदि चार आश्रव की आज्ञा नहीं है। वीतराग अव्रती प्रमाद की आज्ञा नहीं देते हैं कोई कहे कि आश्रव तो संयम रोधक है। उसका उत्तर — मिथ्यात्वादि आश्रव संयम रोधक है, परन्तु शुभ योग तो संयम को पुष्ट करने वाला है इसलिए संयम का आश्रय कहा है। कोई कहे कि आश्रव एवं अव्रत तो एक ही है। उसका उत्तर आश्रव के पांच भेद है, इसमें से अव्रत के कितने ? चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व है वह व्रत में है किन्तु दशवें गुणस्थान में कषाय है वह किसमें ? किसी एक में समाविष्ट नहीं होते हैं अतः दस बोल में सब समाविष्ट हो जाते हैं। दो में नहीं आते दस द्वार का सहस्त्रीभगम माना है अतः दो तो दुर्भिगम, इसलिए साधु के कर्त्तव्य में अव्रत नहीं लगता है पांचवे गुणस्थान पर्यन्त देश से अव्रत है. बावीश प्रमाद वे आश्रव में है पहिले संजल की चौकडी तथा नौ कषाय कहे हैं। ब्रह्म भाव में आवे वे मरण के उदय आने पर ममत्व पन उत्पन्न हो उसे प्रमाद कहते हैं। वह कषाय का ही भेद है परन्तु यहां अलग गिना है. उसके पांच भेद, मद मान का उदय तेबीस विषय, पांच इन्द्रिय, तीन वेद, रति अरति, मोह के उदय, कषाय चार में स्वउदय ३, पांच

निन्द्रा ज्ञानावरणी के उदय से चार विकथा, हास्य, शोक, भय, दुंगछा के उदय हैं, तथा प्रमाद छट्टे गुणस्थान में छः कहे हैं, १ मद, २ विषय, ३ कषाय, ४ निन्द्रा, ५ जुयो, ६ पड़िलेहणा, ये छः प्रमाद छट्टे गुणस्थान पर्यन्त है, वे भी निन्द्रा लेते हैं, विकथा करने का स्वभाव भी है, शब्द विषय का वेदन भी है, कषाय भी उदय में आता है मान भी करते हैं तथा धर्म का कर्त्तव्य करते हुए भी ममत्व भाव उत्पन्न होता है, इसलिये प्रमाद का लगना स्वभाविक है, परन्तु इससे साधुपन समाप्त नहीं होता।

फिर समय २ पर सिद्धान्त आदि पढ़ने से वैराग्य रस उत्पन्न होता रहता है अप्रमत्त भाव आते हैं इसलिये बार बार सातवें गुणस्थान पर चढ़ते हैं, वहां से छट्टे में भी गिरते हैं, परन्तु नीचे नहीं उतरते, और जो सदैव प्रमाद में ही रहे तो सातवें में नहीं चढ़कर नीचे उतरने का स्थान है अधिक प्रमाद से साधुपन में अतिचार लगते हैं इसलिये प्रमाद हटाने का प्रयत्न करें परन्तु उसे सेवन करने का उपाय नहीं करे कितने ही मूढ़मति प्राणी वर्तमान काल में साधु को अतिचार लगते देख कर साधुपने में शंका करते हैं। वे कहते हैं कि अभी साधुपन कैसे पलता है? ऐसे शंकाशील व्यक्तियों को भी अव्यक्तवादी जाने। निह्नव के नजदीक जाने। श्री ठाणांग सूत्र के नौवे ठाणे में कहा

है कि जो ऐसा कहे कि वे चार भेद की विकथा करने वाले हैं, और साधुपने में शंका करे उन्हें तीसरे ठाणे में 'अहिया अणुहाए' कहा है फिर श्री ज्ञाता सूत्र में मोरड़ी के अंडे के न्याय से पांच महाव्रत में शंका करने वाले परलोक में चार संघ में हीनता पावे परभव में संसार के अनन्त दुख पावे ऐसा कहा है।

फिर श्री भगवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के सातवें उद्देश्य में छेदोपस्थानीय चरित्र का विरहकाल कम से कम त्रेपठ हजार वर्ष का कहा है इस अपेक्षा से पांचवां आरा पूर्ण होवे उस दिन पर्यन्त साधुपन रहेगा। फिर श्री भगवती सूत्र के बीसवें शतक के आठवें उद्देश्य में महावीर स्वामी के मुक्ति जाने के बाद इक्कीस हजार वर्ष तक साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका ये चारों तीर्थ चलेंगे, इसलिए वर्तमान काल में तो साधु है ही, यहां कई ऐसा कहते हैं कि भरत क्षेत्र में साधु है तो सही परन्तु यहां दिखाई नहीं देते, ऐसा कहने वाले को ऐसा कहें कि यदि यहां साधु नहीं है तो श्रावक किसके प्रतिबोधित होंगे? तथा प्रत्यक्ष में आर्य दिखाई देते हैं या अनार्य? यदि अनार्य है तो जैन के सूत्र कहां से आये? अनार्य में श्रावक कहां से आये? उत्तम जाति वणिक वर्ग; ब्राह्मण वर्ग कहां से आये और यदि आर्य देश है तो आर्य में साधु क्यों नहीं? और

दूसरे कौनसे आर्य देश हैं ? उन्हें बताओ ! तथा श्री वृहत्कल्प सूत्र में साधु को विहार करने की दिशा बताई है कि पूर्व में अंगदेश चम्पानगरी, दक्षिण में कोशंबी नगरी पश्चिम में मथुरा नगरी अर्थात् सिंध की भूमि और उत्तर में सावत्थी नगरी जो लाहौर की भूमि, इस भूमि से आगे जावे नहीं, जावे तो ज्ञानादि रत्नत्रय का नाश हो इस न्याय से तो इस देश में ही साधु है, दूसरे स्थान में नहीं, चतुर होंगे वे परीक्षा कर लेंगे।

फिर कोई ऐसा कहता है कि साधु है तो तीसरे प्रहर गोचरी क्यों नहीं करते ? ग्राम में कैसे उतरे ? कविता कैसे करे ? चित्र आदि कैसे बनावे ? लिखे क्यों ? परस्पर में संभोग क्यों नहीं ? पांच महाव्रत में अतिचार कैसे लगावे। किवाड कैसे बन्द करे ? नित्य धोवण कैसे लेवे ? अन्य श्रावकों को पौषध कैसे करावे ? अब इनका उत्तर कहते हैं कि जो तीसरे प्रहर गोचरी के लिये कहा वह उत्कृष्ट अवस्था में है, परन्तु प्रथम प्रहर में कोई निषेध नहीं है. श्री उत्तराध्ययन सूत्र के तीसवें अध्याय की २०वीं गाथा में चार प्रहर में गोचरी करना कहा है श्री वृहत्कल्प सूत्र के चौथे उद्देश्य के ११वें सूत्र में चारों आहार में से कोई भी आहार प्रथम प्रहर का चौथे प्रहर में रखना नहीं कल्पता, तो प्रथम प्रहर में लाना तो निश्चित हुआ।

फिर श्री दशवैकालिक सूत्र के ५वें अध्याय के दूसरे उद्देश्य की २-३ री गाथा में गोचरी लावो उससे पूर्ति नहीं होवे तो दूसरी बार जाकर लाना कहा, श्री उत्तरा-ध्ययन सूत्र के पहले अध्याय की ३१वीं गाथा में तथा श्री दसवेकालिक सूत्र के ५वें अध्याय के दूसरे उद्देश्य की ४थी गाथा में 'काले काल समायरे' जिस ग्राम नगर में जो ममय भिक्षा काल का हो उसी समय गोचरी जाने को कहा है, फिर श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २६वें अध्याय में तीसरे प्रहर गोचरी कहा है, गोतम आदि साधु भी तीसरे प्रहर गोचरी गये जाना जाता है। किन्तु यह तो पूर्व दिशा के प्रान्तों की बात्त है वहां आज भी तीसरे प्रहर में भिक्षा का काल जान पडता है, इसलिये उ-सर्ग मार्ग की अपेक्षा व्यवहार में प्रायः करे तीसरे प्रहर की भिक्षा करते हुए भी प्रथम प्रहर में निषेध नहीं किया, फिर श्री आचारांग सूत्र में उत्सर्ग, अपवाद दो मार्ग बताये हैं उसमें जिनकल्पी सदा उत्सर्ग मार्ग को अंगीकार करते हैं तथा स्थविर कल्पी उत्सर्ग या अपवाद जैसा अवसर देखे वैसा करे, दोनों मार्ग का अनुसरण करता हुआ भगवान की आज्ञा का उलंघन नहीं करता है। इसलिये साधु अवसर देखे वैसा करे, स्वयं के व्रत पच्चक्खाण तो स्वयं से ही पलेंगे, दूसरों के पलाने से अन्त तक नहीं निभेंगे, स्वयं

परभव से डरेंगे. वे तो न्यूनता को हटाने का उपाय करेंगे, साधु स्वयं भोले अर्थात् नासमझ नहीं है जो विना ही कारण न्यूनता का सेवन करेगा (यदि कोई आचार में न्यूनता करेगा) तो उसे मुश्किल होगी।

ग्राम में उतरने की अपेक्षा पूछे तो श्री भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में भगवंत श्री महावीर स्वामी ने राजगृही नगरी के नालन्दा पाड़ा में चौमासे किये उन्होंने कैसे चातुर्मास किये? फिर श्री उपासकदशांग सूत्र में शकडाल को प्रतिबोधित करने के लिए पोलासपुर में कैसे उतरे? तथा श्री रायप्पसेणी सूत्र में केशीकुमार ने कहा चार प्रकार से धर्म प्राप्त नहीं होता एवं चार प्रकार से धर्म प्राप्त होता है। उपवन में साधु उतरे हुए हों और उन्हें वन्दना करने न जावे, ग्राम में उपाश्रय में उतरे घर आया एवं मार्ग में मिलने पर वन्दना न करे तो धर्म प्राप्त नहीं होता और इन चारों जगह वन्दनादि सत्कार करने से धर्म प्राप्त होता है फिर श्री वृहत्कल्प सूत्र में कहा है कि यदि उपाश्रय में धान, घी, गुड़, तेल, दूध, दही, मक्खन इत्यादि बिखरे हुए हो तो वहां नहीं रहना तथा ऊंचे हो या बन्द किये हुए हो वहां रहना ग्राम में रहने का कहां निषेध है? यह दिखाओ? यहां कोई कहे कि पहिले साधु बाग में कैसे उतरते थे? उन्हें यों कहे कि बाग में

उतरने से अधिक तप उससे भी पर्वत तथा उजड़ अर्थात् निर्जन स्थान में रहे तो विशेष तप होता है परन्तु ग्राम में रहने में दोष नहीं, तथा जो चौथे आरे में अधिक बाहर उतरते थे सो वह तो काल व पराक्रम का प्रभाव था, बाहर जगह भी बहुत निर्वद्य होती थी, साधु महान् संघयणवंत एवं शूरवीर होते थे श्रावक भी धर्मी होते थे तथा बाहर वन्दना करने जाते थे, किन्तु वर्तमान काल में दुषम आरे के प्रभाव से बाहर बहुत कम स्थान मिलते हैं, तथा शारीरिक संघयण भी नहीं है, श्रावक भी कम श्रद्धावन्त एवं अधिक आलसी बनते जारहे हैं इसलिए ग्राम में रहना पडता है।

अब कविता के लिये पूछने पर उत्तरः—साधु के लिये कविता करने का किसी भी स्थान पर निषेध नहीं है, मिथ्या कविता का निषेध है। जिसे साधु नहीं करते हैं, श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अठावीसवें अध्याय की ३१वीं गाथा के अर्थ में तथा प्रवचन सारोद्धार ग्रंथ में समकित की आठ प्रभावना में कहा है कि कविता करने की कला हो तो कविता करके जैन मार्ग दीपावें। फिर साधु "कुतियावणाभूया" अर्थात् स्वसमय पर समय का जानकार हो फिर श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अठावीसवें अध्याय में भी दोनों शास्त्र पढ़ना कहा है तो अपनी की हुई कविता

में सूत्र के न्याय से क्या बाधा है ? तथा श्री नंदीसूत्र में व्याकरण, भागवत, पुराणादि मिथ्यात्वियों के शास्त्र कहे हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि पढ़े तो धर्म शास्त्र कहा फिर श्री ठाणांग सूत्र के नवमें ठाणे में ज्योतिष विद्या पाप शास्त्र है उसे साधु पुष्ट कारण से पढ़े तो धर्म शास्त्र है इस न्याय से फिर जो ऐसा कहे कि साधु को व्याकरण नहीं पढ़ना ऐसे बोलने वाले एकान्त दुर्नय वाले हैं तथा कोई ऐसा कहे कि जो शब्द शास्त्र पढ़े बिना उपदेश देते हैं वे ज्ञानावरणी कर्म का उपार्जन करते हैं और उसके श्रोता दर्शनावरणीय कर्म का उपार्जन करते हैं जो ऐसा कहते हैं उन्हें भी शास्त्र के विडंबक जानना। क्योंकि भगवान की वाणी तो अर्धमागधी भाषा में है, संस्कृत भाषा तो पीछे के आचार्यों की रचना है और व्याकरण आदि के सब कौन ज्ञाता होते हैं, पढ़े हैं ? इनके तो कोई एक ज्ञाता होते हैं, तो क्या सब कर्म उपार्जक है ? यह बात उपयुक्त नहीं लगती है। परन्तु पढ़ने में दोष नहीं और यदि नहीं पढ़े तो कोई बाधा नहीं।

फिर श्री ठाणांग सूत्र में तथा अनुयोग द्वार सूत्र में ऋषिश्वर को प्रशस्त गाने का का कहा है। चार प्रकार की काया में गाना कहा है इसलिये स्वाध्याय, स्तवन, श्लोक, दृष्टान्त, काव्य, प्रस्ताविक, सवैया, छन्द, चौपाई,

चरित्र, कथा इत्यादि जो जो भी सिद्धान्त से मिलते हों उनका वाचन करने कविता में जोडने, कहने अथवा गाने में आपत्ति नहीं जो सिद्धान्त से विरुद्ध हो उन्हें साधु को नहीं कहना चाहिये न ही जोडना चाहिये और न उन्हें सुनना चाहिये इसलिए कविता करने का निषेध नहीं करे।

फिर चित्रों की अपेक्षा पूछे तो जिन चित्रों को देखने से राग उत्पन्न हो उन्हें साधु नहीं देखे न उनके चित्र बनावें, न दिखावें जिनको देखने से ज्ञान बढ़े तथा वैराग्य उत्पन्न हो उन चित्रों को दिखाने में दोष नहीं फिर श्री नन्दी सूत्र में कहा है कि 'उपयोगवंत श्रुत ज्ञानी' सब द्रव्य जाने देखे वहां अर्थ का ऐसे विस्तार किया है कि स्वर्ग नरक आदि आकार भेद गुरु ने शास्त्र करके जाना उस आकार का चित्रण करके गुरु नरक तथा देव विमानादि दिखावे तथा देखा हुआ ही कहे ऐसे भाव देखते हुए तो चित्रकला में बाधा नहीं लगती है किन्तु जिनके देखने से विकार उत्पन्न हो वैसे स्त्री प्रमुख के विलासकारी चित्र नहीं दिखावें।

लिखने के लिए पूछे तो श्री प्रश्नव्याकरण के सातवें अर्थ में "जह भणियं तहय कम्मुणा होई" जिस प्रकार सत्य पढ़े उसी प्रकार लिखने आदि की क्रिया भी सत्य ही करे। फिर श्री निशीथ सूत्र के बीसवें उद्देश्य में विशाखा

नाम के आचार्य ने निशीथ सूत्र लिखा है ऐसा कहा, गुण के निधान ज्ञानादि सहित ऐसे आचार्य लिखे तो दूसरे साधु की क्या विशेषता ? और लिखना धर्म की वृद्धि हेतु है, परन्तु परिग्रह के लिए नहीं लिखते फिर श्री दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्याय में पृथ्वी पर लिखने का निषेध किया है, परन्तु दूसरे पर लिखने का निषेध नहीं किया तथा जो महान बुद्धिमान होते हैं वे पत्र किसलिये रखें ? ये तो अल्प बुद्धि वाले जीवों के लिये हैं, जिन्हें शास्त्र के बिना ज्ञान नहीं होता अतः उनके लिए अपवाद रूप में लिखने में दोष नहीं। तथा श्री आचारंग सूत्र के सातवें अध्याय में कहा है कि क्षमा श्रमण देवर्द्धिगणि ने शास्त्र लिखे हैं तो फिर दूसरों के लिए निषेध क्यों ?

तथा कोई कहे कि साधु चश्मा क्यों रखते हैं ? उन्हें ऐसा कहे कि चश्में का किस स्थान पर निषेध किया है ? सूत्र में तो कांच के पात्रों का निषेध है, वस्त्र के, चर्म के, सित्तर जाति के पात्रों का निषेध किया है, परन्तु वस्त्र कांच व चर्म रखने में बाधा नहीं। कोई कहे कि कांच के पात्र कैसे होते हैं ? कांच का ही निषेध किया है इसके उत्तर में प्रतिप्रश्न होता है कि वस्त्रों के पात्र कैसे होते हैं ? वस्त्र क्यों रखते हैं ? कोई कहे कि कांच का मूल्य होता है धातु है तो क्या वस्त्र; पात्र, पुस्तक आदि का

मूल्य नहीं हो सकता ? कांच किस धातु में है ? कोई कहे कि कांच रखने को कहां कहा है ? तो पुस्तक, स्याही हिंगलू, लेखनी, पट्टियां रखने का वर्णन कहां चला है ? कोई कहे कि पुस्तक बिना तो कार्य चलता नहीं यह तो ज्ञान के निमित्त है, तो कमजोर नेत्रों वालों के लिये चश्मा बिना भी कार्य नहीं चलता है, ज्ञान पढ़ने के लिये रखते हैं। यदि पुस्तक रखें तो फिर स्याही, हिंगलू, लेखनी, चश्मा, पट्टियां आदि सब रह सकती है।

संभोग की अपेक्षा पूछे तो सूत्र में अलग अलग गच्छ कैसे कहे ? श्री भगवती सूत्र के पहले शतक के तीसरे उद्देश्य के तेरह अन्तरों में आचार्य के मत अभिप्राय अलग अलग कैसे कहे ? फिर श्री दशाश्रुत स्कंध सूत्र में कहा कि छः माह पहिले गच्छ छोड़े तो सबल दोष लगे ! अतः यह तो सिद्ध होगया कि गच्छ अलग तो होते हैं, फिर श्री बृहत्कल्प सूत्र में धर्म विधि अधिक देखे तो संविभाग करना कहा है, अन्यथा नहीं करें, फिर श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दशवें अध्याय में पांचवें आरे में आचार्य महाराजा अनेक मतों के दिखाने वाले होंगे, फिर चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों में से तीसरे स्वप्न में चन्द्रमा चालणी के समान दिखाई दिया इससे आचार्यों की समाचारी अलग अलग होगी, अतः एक गच्छ मे संगठित रहना असम्भव है, सूत्र

में स्थान स्थान पर अलग २ गच्छ कहे हैं. इसलिए एक ही गच्छ हो ऐसा आग्रह नहीं रखें, बहुत से गच्छों के साधु साध्वी गुणवंत होते है. कई जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट है, परन्तु उनमें गुणवान है एक गच्छ के आधार पर जैन शासन का चलना अशक्य है। अनेक साधुओं का विश्वास रखने वाला सुखी होगा, एकान्त पक्ष खेंचने वाले को दुष्मन व्रत जानना तथा कोई कहे कि साधु संभोग करे तो बाहर संभोग करे अन्यथा एक भी नहीं करे ऐसा कहना भी सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। क्योंकि श्री आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के सातवें अध्याय में कहा है कि संभोगी साधु आवे उन्हें असनादि का आमंत्रण देवे तथा विसंभोगी आवे उन्हें पाट पाटले बाजोट आदि देवे, फिर श्री उत्तराध्ययन सूत्र के तेवीसवें अध्याय मे केशीकुमार ने भी गोतम स्वामी को घास आदि का आमन्त्रण दिया था इत्यादि कारणों को ध्यान में रखते हुए सबके साथ सब संभोग रखना आवश्यक नहीं अपितु जितने संभोगों की अनुकूलता हो उतने ही संभोग करे, एक हो यावत सभी उत्कृष्ट संभोग कर सकते हैं तथा कोई कहे कि साधु तो एक पात्र रखे जिसके उत्तर में कहना है कि सूत्र में तो पात्रा शब्द का उल्लेख है जो जाति-वाचक है तथा श्री आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के

छट्ठे अध्याय में कहा है कि जो निर्ग्रन्थ तरुण, अवस्था वाला तीसरे चौथे आरे में जन्मा हुआ महा संघयणवंत हो वह एक पात्र रखे ऐसे ही वस्त्र भी एक रखे यह उत्सर्ग मार्ग का पाठ है किन्तु दूसरे तीन पछेवड़ी रखे तो फिर तीन पात्र क्यों नहीं रखे ? फिर श्री व्यवहार सूत्र के दूसरे उद्देश्य में तीन पात्र कहा है इसलिये तीन पात्र रखते हैं फिर उववाइ, ठाणांग तथा भगवती सूत्र में एक वस्त्र, एक पात्र रखे तो अधिक तप कहा है, परन्तु तीन रखे तो दोष नहीं । तथा अभी काल के प्रभाव से संघयण के मंद पने से कर्म की गुरुता से वक्र जड़ता से अतिचार अधिक लगते जान पड़ते हैं, इससे कई एक निर्बुद्धि जीवों को साधु दिखाई नहीं पड़ते, वे कहते हैं कि यदि साधु हो तो इतने दोषों का कैसे सेवन करे ? जिसका उत्तर सूत्र में पांच चरित्र एवं छः निर्ग्रन्थ कहे हैं । साधु साधु अनन्त भाग हीन इत्यादि विकल्प कैसे कहा है ? फिर श्री ठाणांग सूत्र में चार प्रव्रज्या कही 'धन संघहीय समाणा' इत्यादि अतिचार रुप कचरे युक्त प्रव्रज्या कही फिर वकुश चरित्र शरीर, उपकरण विभूषा के करने से शुद्ध तथा अशुद्ध मिश्र चरित्र कहा है ।

फिर छेदोपस्थापनिक चारित्र अर्थात् महावीर स्वामी के साधुओं का सातिचार (अतिचार सहित) चारित्र होता

है, फिर सातवें गुणस्थान में छद्मस्थ के सात लक्षण कहे हैं. उसमें १ हिंसा करे, २ झूंठ बोले, ३ चोरी करे, ४ शब्दादि वेदे, ५ सदोष आहार ले. ६ पूंजा सत्कार वंछे, ७ वागरे लीसो न करे ये सात शुद्ध लक्षण केवली के कहे हैं. फिर ठाणायंग सूत्र के चोथे ठाणे में चार प्रकार से केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं होना बताया है। १ हर समय स्त्री कथा, २ भक्त कथा, ३ देश कथा, ४ राज कथा करे १ अशुद्ध आहार का छोड़ना २ काउसग्ग करते समय आत्मा में सम्यक भाव नहीं ३ अगली पिछली रात्रि मे धर्म जागरण नहीं करना ४ शुद्ध सामुदाणीक ऐषणीक गोचरी नहीं करे, फिर पांचवें आरे के जीव वक्र एवं जड कहा इसलिये पांच बातें समझाना दुष्कर कहा है तथा श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक में सकषाय साधु दसवें गुण स्थान तक कहे हैं अतः सूत्र के न्याय से नहींचलकर विप-रीत चलते हैं। इसलिये सम्पराय क्रिया लगती है, सात आठ कर्म का बन्ध करते हैं वीतराग ११वें, १२वें, १३वें गुण स्थान में होते हैं ये सूत्र के न्याय से चलते हैं, परन्तु एक शाता वेदनी बांधे इसलिए दो घड़ी पर्यन्त सूत्र के भी न्याय से चले तो निश्चय केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।

फिर श्री कल्प सूत्र मे पांचवें आरे के जीवों को क्लेश करने वाले, झगड़ा करने वाले, असमाधि करने

वाले, उद्वेग करने वाले बहुत मुंड "अप्प समणा भवि स्संति" कहा है, फिर श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्याय में अकेला "अप्प" कहे 'अप्पपुमं' तुमने कहा था कि साधु में भी क्लेश करने का स्वभाव लगता है इसीलिए कहा है। फिर श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में स्वधर्मी का क्लेश मिटाने का कहा है, फिर सोलह स्वप्न में मत्सर युक्त होवेंगे। चवदवें स्वप्न में रत्न की कांति तेज होकर हीन देखी जिसके प्रभाव से भरत क्षेत्र एवं ऐरावत क्षेत्र के साधु चारित्र रुपी तेज से हीन देखे, क्लेश के करने वाले अविनय करने वाले, एक एक के अवगुणवाद बोलने वाले होंगे, ऐसा कहा है। अतः सभी साधु समान कैसे होंगे? किसी में बहुत गुण है कोई में कम गुण है परन्तु इनमें भी साधु है असाधु नहीं, हीरे की खान तो यही है, इसी में गुणवंत है कोई लक्ष रुपये का हीरा तो कोई निन्यानवें हजार का हीरा तो कोई कम ज्यादा मूल्य का हीरा पर है सब हीरे ही। पहिले चौथे आरे में भी सब समान नहीं हुये। पार्श्वनाथ भगवान की आर्याओ ने हाथ पैर धोये थे उन्हें भी गच्छ के बाहर नहीं कहा सुभद्रा ने बच्चे बच्चियों को हुलराये खिलाये उन्हें भी असाध्वी नहीं कहा। तो फिर कोई एक अतिचार देखकर, थोड़े में ही साधु को असाधु कहते हैं वे भारी वचन के बोलने वाले एवं दुर्लभ बोधी है।

फिर श्री सूयगडांग सूत्र के दूसरे स्कन्ध के सातवें अध्याय में कहा है कि गोतम स्वामी ने उदक पेढ़ाल पुत्र को कहा कि चारित्रवानों स्वयं गुणवान होते हुये भी यथोक्त श्रमण माहण की निंदा करते हैं. उन्हें परलोक में संयम का विराधक कहा, तथा जो यथोक्त श्रमण के साथ मित्र भाव रखते हैं उनके ज्ञानादि गुण सफल कहे गये हैं, वे आराधक होते हैं। इसलिये सब साधुओं के साथ मित्र भावना रखना चाहिये तथा श्री उत्तराध्ययन सूत्र के ग्यारहवें अध्याय में चौदह बोल अविनीत के एवं पन्द्रह बोल विनीत के बताये हैं, यदि कोई संयम में दोष लगायेगा तो उसे ही मुश्किल होगी, परन्तु दूसरे उसकी अनुमोदना नहीं करे तो उसे दोष नहीं, फिर नौवे स्वप्न में तीन दिशाओं में समुद्र सूखा दिखाई दिया और दक्षिण दिशा में कुछ गन्दा पानी दिखाई दिया, इसके प्रभाव से तीन दिशाओं में धर्म की हानि है, तथा दक्षिण व पश्चिम में थोड़ा बहुत धर्म है वह भी कषाय युक्त तथा अनेक मतों के कारण गुदला अर्थात् गंदा होगा। जैसे अटवी में ज्येष्ठ के महीने में प्यास से पीड़ित व्यक्ति ने गंदा पानी पीकर प्यास शांत की वह अटवी उलांघ कर पार पहुँचा एवं सुख प्राप्त किया तथा आगे निर्मल जल भी मिला, और जिन्होंने गंदे जल से तृषा शान्त नहीं की वे मरण

को प्राप्त हुये। ऐसे ही चार कषाय तथा अतिचार आदि से युक्त गन्दे पानी के समान धर्म जानना, अतः जो ऐसे धर्म का आराधन करेंगे वे सुखी होंगे और आगे शुद्ध धर्म को भी प्राप्त करेंगे किन्तु गन्दे पानी से घृणा करने वाले के समान धर्म नहीं किया साधुपन को श्रद्धा नहीं वे बहुत दुखी होंगे। यह भावार्थ धर्म में होने के लिये कहा परन्तु साधना तो उत्कृष्ट संयम की करनी चाहिये।

फिर कोई कहे कि साधु होकर किवाड़ खोले तथा बन्द करे उनका पहला महाव्रत भंग होता है ऐसे बोलने वाले एकान्त अविचारित प्ररुपणा करते हैं। इसके लिए सूत्र में किसी भी स्थान में किवाड़ खोलने व बन्द करने का निषेध नहीं किया है और जो निषेध किया ऐसा कहते हैं वे चार सूत्रों की साख देते हैं वे गलत साख देते हैं। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के पैंतीसवें अध्याय में चित्रामण सहित किवाड़ आदि छः बोल वर्जित किये, वे तो साधु साध्वी दोनों के लिए वर्जित किये हैं, वहां साधु साध्वी कैसे रहे? क्यों कि यहां किवाड़ का कारण नहीं, यहां इन्द्रियों के विकार को छोड़ने के लिए कहा है, फिर श्री आवश्यक सूत्र में ऐसे स्थानों में गोचरी नहीं जाने का कहा वहां साधु साध्वी दोनों के लिए मना किया है; श्री सूयगडांग सूत्र में एक, दो, चार बातें मना की वे जिनकल्पी की

अपेक्षा से है, स्थविर कल्पी इन चारों का कैसे सेवन करते हैं ? १ किवाड़ खोलना व बन्द करना २ धर्म कथा करना ३ तृण लेना ४ पूप निकालना। श्री वृहत्कल्प सूत्र में साध्वी को खुले स्थान में रहना नहीं कल्पता, परन्तु साधु को मना नहीं किया, तथा श्री सूयगडांग सूत्र में भी कहा है, तथा कोई कहे कि तुम किवाड़ बन्द करते हो तो फिर गृहस्थी किवाड़ खोलकर असनादि देवे तो क्यों नहीं लेते ? उन्हें कहें कि साध्वी स्वयं किवाड़ बन्द करे एवं खोले फिर वह आहार क्यों नहीं लेती ? फिर केवल किवाड़ बन्द करने मात्र से महाव्रत भंग होता है तो साध्वी के चार महाव्रत तो नहीं फिर वे कैसे बन्द करती है ? तब वे कहते हैं कि साध्वी को तो शील की रक्षा के लिये किवाड़ बन्द करना कहा है, यदि ऐसा है तो क्या चौथा व्रत रखने के लिये पहला व्रत भंग करना ? ऐसे किंवाड़ बन्द करने से व्रत भंग होता है तो किवाड़ बन्द करने वाले को नई दीक्षा दिये बिना आहार शामिल करे उसमें साधुपना श्रद्धे उन्हें सम्यकदृष्टि नहीं कहते, तथा जो किवाड़ बन्द करने से महाव्रत भंग होता है तो किवाड़िया में कैसे नहीं भंग होगा ? हिंसा के स्थान तो दोनों ही है। जैसे कोई जानकर सर्प मारे तथा कोई आकुट्टी से कीड़ी मारे तो इन दोनों के व्रत भंग होंगे कि नहीं ? फिर श्री आचारांग

सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के नौवें अध्याय में घर का दरवाजा बन्द किया हुआ हो तो आज्ञा लेकर, देखकर, पूंज कर खोलने का कहा है, इसलिये किवाड़ खोलने से महाव्रत-भंग हुवा कहे यह झूंठी बात है, परन्तु कोई किवाड़ बन्द नहीं करे तो विशेषता है क्योंकि बन्द करने से किसी समय हिंसा होगी तो अतिचार है हम तो दोनों में कमी मानते हैं। यदि एक महाव्रत भंग हो और एक में किंचित भी दोष नहीं तो ये दोनों बातें झूंठी है, तब वे कहे कि साधु गृहस्थी को किवाड़ बन्द करने का नियम कराते हैं, तब स्वयं कैसे बन्द करते हैं ? उन्हें ऐसा कहे कि साधु गृहस्थी को उपवास कराकर स्वयं कैसे खाते है ? तथा साधु को पूंजते पड़िलेहण करते, चलते नदी में उतरते. किवाड़ खोलते बन्द करते जो हिंसा होती है उसकी तो आलोचना निंदा करते हैं परन्तु अनुमोदन नहीं करते हैं। दोनों समय प्रतिक्रमण करते समय आलोचना करते हैं तथा कोई कहे कि अतिचार की आलोचना किये बिना मरे तो विराधिक होते हैं तो तुम कभी आलोचना करते हो ? उन्हें पूछे कि आप मध्य रात्रि के पूर्व अतिचार सेवन कर उसकी आलोचना किये बिना मर गये तो आराधिक या विराधिक ? क्योंकि मध्यरात्रि में किस समय आलोचना करते हो?

साधु के पास पौषध करे उसका उत्तर ठाणायंग सूत्र के नौवे ठाणे के अर्थ में उदायि राजा ने साधु के पास पौषध किया, तथा श्री कल्पसूत्र में अठार राजाओं ने श्री वीर प्रभु के पास पौषध किये तथा श्री निशीथ सूत्र के आठवें उद्देश्य में ज्ञानी अज्ञानी श्रावक अश्रावक को मध्य रात्रि में तथा सारी रात्री उपाश्रय में ठहरावे तो प्रायश्चित कहा उनके पास भोजन हो धन हो, तथा स्त्री हो उसकी अपेक्षा वर्जित किया है, दूसरे श्री वृहत्कल्प सूत्र में स्त्री हो वहां साध्वी को कल्पता है, पुरुष हो वहां साधु को कल्पता है ऐसा कहा है, सूत्र विरुद्ध नहीं है इसलिए धन, स्त्री तथा भोजन वाला वर्जित है फिर श्री आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के सातवें अध्याय में कहा है कि भिक्खु रात्रि में शामिल रहे हुए हो तो दो हाथ दूरी से मालूम कर फिर पैर रखे। यदि साथ रहने में महाव्रत भंग होता हो तो कैसे सामिल रहे? चौथे आरे में तो श्रावक सामायिक पौषध अपनी अपनी पोषधशाला में करते थे किन्तु अभी तो लोगों के पास अलग २ जगह नहीं है, इसलिये बहुत श्रावकों की पौषधशाला सम्मिलित होती हैं, जिसमें श्रावक धर्म ध्यान करते हैं, वहां किसी समय साधु भी रहते हैं, तब उस समय श्रावक कहां जावे? तथा कोई कहे कि जो अधिक श्रावकों की नेश्राय में है तो आप

शय्यान्तर किसका टालते हो ? उन्हें ऐसा पूछे कि आप उपाश्रय, धर्मशाला में उतरते हो तब शय्यांतर किसका टालते हो ? तब वे कहे कि हम तो एक घर टालते हैं, जैसे-तुम एक घर टालते हो उसी प्रकार हम भी एक घर टालते हैं।

फिर श्री बृहत्कल्प सूत्र में दो, तीन, चार पांच का सम्मिलित स्थान हो वहां एक का शय्यांतर टालने का कहा है, फिर उस स्थानक को कोई आधाकर्मी मानते हैं, उन्हें झूठ लगता है क्योंकि आधाकर्मी तो एकान्त साधु निमित्त बनाया हुवा होवे वह कहलाता है, परन्तु ये स्थानक तो स्वयं के लिये कराते हैं उसमें किसी समय साधु भी रहते हैं जैसे गृहस्थी आहार भी स्वयं के लिये बनाता है पर उसमें से किसी समय साधु भी बहरते हैं उसमें दोष नहीं ? परन्तु साधु का भाव न मिलाये फिर अन्नादि उत्पन्न करते समय भी ऐसा जानते हैं कि मैं भी खाऊंगा तथा कोई साधु पधारेंगे तो भावना फलेगी उसमें दोष नहीं है, दोष तो साधु के लिये ही करेंगे तब लगेगा साधु तो मन, वचन, काया से भी अनुमोदन नहीं करते हैं करेंगे तो भारी दोष लगेगा, परन्तु आधाकर्मी तो नहीं कहलाता, फिर श्री आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध में कहा है कि साधु के लिये छावे, लीपे, दले, ढोले,

उपयोग में नहीं आया हो तब तक नहीं कल्पता पुरुषान्तर होने के बाद कल्पता है, इस प्रकार साधु अनुमोदना नहीं करे तो साधु को दोष नहीं लगता है। ऐसा कदाचित् स्थानाभाव से मन झेलकर बसे तो न्यूनता लगेगी, परन्तु साधु पणा भंग हो ऐसी भाषा नहीं बोले।

फिर कोई उपकरण की अपेक्षा कहे तो जितने भगवान की आज्ञा उपरांत रखेंगे तथा उनकी प्रतिलेखना आदि नहीं करेंगे तथा कम ज्यादा करेंगे वह सब न्यूनता का कारण है परन्तु इन बातों से मूलव्रत भंग नहीं होता, कई स्थानों पर नित्य धोवण (जल) लेना पड़ता है, वह भी न्यूनता में है परन्तु आहार बराबर अर्थात् दोष रहित लेने वाले को अनाचारी कहे यह ठीक नहीं आहार एवं धोवण समान कैसे हो सकते हैं ? आहार स्वयं अपने हाथ से नहीं लेते हैं परन्तु धोवण आज्ञा लेकर लेते हैं, आहार करने पर उपवास नहीं होता है पर धोवण पीने से उपवास होता है धोवण परठने योग्य माना गया है इसलिए विशेष दोष नहीं. परन्तु कमी को कमी नहीं माने तब तो बहुत दोष लगता है कई एक स्वयं तो करते हैं, परन्तु उसमें कमी नहीं समझे किन्तु दूसरे करते हों उसकी निन्दा करते हैं वे एकान्त गलत प्ररुपणा करने वाले निन्दक एवं निह्नव होते हैं इत्यादि प्रकार से अतिचार के अनेक स्थान हैं, जिन्हें

पण्डित साधु टालने का उपाय करे ऐसा करते हुए भी कोई अतिचार लगे तो मूलव्रत भंग नहीं होते। जो गंभीर दृष्टि रखें तथा सूत्र के अनुसार व्यवहार नहीं करे तथा एकान्त खींचने से भारी दोष का स्थान है इसलिए हेय, ज्ञेय, उपादेय कारण कार्य आदि विचार कर उत्सर्ग अपवाद देख के वर्ताव करें। परन्तु जितना जितना प्रमाद है, वह वीतराग की आज्ञा में नहीं है किन्तु छट्ठे गुण स्थान पर्यन्त है, सातवें गुण स्थान में प्रमाद नहीं है।

चौथा कषाय आश्रवः—समुच्चय पच्चीस कषाय को आश्रव कहते हैं। ये चार तो एकांत अशुभ आश्रव ही है।

पांचवा योग आश्रव मन; वचन, काया के योग माठे (अशुभ) प्रवर्तावे वह आश्रव है परन्तु निश्चय नय में तो अशुभ शुभ योग सब सावद्य है सब छोड़ने योग्य हेय पदार्थ हैं परन्तु व्यवहार नय में शुभ योग से निर्जरा होती है इस अपेक्षा से इसे संवर कहते हैं। प्राणातिपात आदि पांच एकान्त अशुभ है, पांच इन्द्रियों के विषय आश्रव है तथा सुनना व देखना ये ज्ञान रुप है। इन्द्रिय आवरण का क्षयोपशम है। तीन योग तो समयोग की तरह हैं, भंडोपगरण तथा सुचि कुसग ये यतना पूर्वक नहीं प्रवर्तावे तो आश्रव तथा यत्ना पूर्वक प्रवर्तावे यह भी निश्चय नय में तो आश्रव है। इस प्रकार सभी आश्रव के बीस भेद हैं,

ये सब जीव का व्यापार है, परन्तु आश्रव स्वयं अजीव है वह चौथे दृष्टान्त द्वार से जान लेवें। सूत्र में भी आश्रव को स्थान स्थान पर अजीव कहा है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्याय में गर्दभाली मुनि आश्रव को क्षय करते हुये विचरते हैं ऐसा कहा है तब जीव का क्षय कैसे होता है? इसलिए मुख्य नय से तो आश्रव कर्म ही है, कर्म आने का उपाय है जीव को भटकाने का स्वभाव है, निश्चय में छोड़ने योग्य है इसलिये इनकी भावना नहीं करना चाहिये। आश्रव के प्रभाव से जीव को सुख दुःख उत्पन्न होता है मुक्ति में नहीं जा सकता है। इसीलिए कर्म बंध करता है आश्रव के अनंत प्रदेशी खंध चौस्पर्शी है, एक काया का योग आठ स्पर्शी है, इस प्रकार आश्रव तत्व का परिचय हुआ।

संवर तत्व का परिचय :–संवर के दो भेद १ द्रव्य संवर तथा २ भाव संवर। यहां द्रव्य संवर किसे कहते हैं? समकित आदि के द्वारा मिथ्यात्वादि कर्म आने के द्वार रोके, यहां आते हुए कर्म रोके इसकी अपेक्षा से द्रव्य संवर कहा है, मन, वचन, काया संवर, भंडोपगरण संवर इस प्रकार से द्रव्यों का संवर किया उसे संवर कहते हैं जो पुद्गल रूप है, भाव संवर हिंसादि से निवर्तना, समकित आदि धारण करना व्रत आदि स्वीकार करना,

इन्हें शुद्ध अध्यवसाय रूप भाव संवर कहते हैं, यह तो औपचारिक नय की अपेक्षा कहा है। मुख्य नय में संवर जीव का निज गुण है, जीव परिणाम है, इसलिये संवर अरूपी है, कर्म को संवर नहीं कहते हैं, इस अपेक्षा से द्रव्य संवर के तेरह भेद कहें। उपयोग रहित जो संवर पढ़ कर ज्ञान हो वह आगम से द्रव्य संवर कहलाता है। श्री अनु-योगद्वार सूत्र में 'अणुवओगो दव्वं' इत्यादि नो आगम से १ जाणग शरीर २ भाव्य शरीर पूर्व के समान ३ तदव्यति रिक्त के तीन भेद १ लौकिक में, अपने कुल में जिस वस्तु से निवर्ते वह लौकिक द्रव्य संवर। २ पर पाखंडी अपने मत से तथा हिंसादि से निवर्तें उसे कुप्रावचनीक द्रव्य संवर कहते हैं। ३ जैन मत में मिथ्यादृष्टि निह्नव वगैरह तथा पासत्थादि व्रत पालते हैं उसे लोकोत्तर द्रव्य संवर कहते हैं 'अप्पहाणे विसद्दो' इति वचनात् तथा जो साधु साध्वी, श्रावक श्राविका,समकित दृष्टि, सम्यकत्व व्रत आदि उपयोग सहित पाले वह भाव संवर है, पूर्व में जो मिथ्यात्वमोहनी कर्म का बंधन किया है उनका उपशमन करे क्षयोपक्षम करे तथा क्षय करे, एवं सम्यकत्व प्राप्त करे उसे संवर कहते हैं मिथ्यात्व से जो कर्म आते थे उन्हें रोके इसलिए संवर कहते हैं, ऐसे अप्रत्याख्यानी प्रत्याख्यानी की चोकड़ी को त्यागे जिससे खाने, पीने, उठने, बैठने प्रमुख परिग्रह की

तंजहा १ मिच्छते २ अविरइ ३ पमाया ४ कसाया ५ जोगा इस न्याय से जो योग वह आश्रव इसलिये वीतराग को ११वें, १२वें, १३वें गुणस्थान में भी योग के प्रभाव से इरियावहि क्रिया लगती है इस कारण सयोगी जीव पानी के समान क्षण मात्र निश्चल नहीं रह सकते, इसलिये सूक्ष्म क्रिया लगती है जिसकी दो समय की स्थिति है, उस समय अशुभ योग तो नहीं पर शुभ योग से कर्म बंधता है। वीतराग के कषाय का उदय मिटा, जिससे अनुभाग बंध नहीं होता है स्थिति भी नहीं, चौदहवें गुणस्थान में आश्रव नहीं है अतः कर्म भी नहीं बन्धे श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्याय में 'काय गुत्तायाएणं संवरं जणयइ संवरेण कायगुत्ते पुणो पावासव निरोहं करेइ' संवर से पाप पुण्य दोनों का निरोध होता है। संवर निश्चय नय में तो सम्यकदृष्टि के होता है, परन्तु द्रव्य संवर सब संसारी जीवों के होता है, संवर के मूल भेद तो सम्यकदृष्टि के बिना दूसरों के नहीं होते हैं तथा क्षमाभाव, समभाव, दमभाव, नम्रभाव, सत्यशील, दया के परिणाम, शुभ अध्यवसाय सब जीवों के पास होते हैं, इस कारण अनुकंपा अमत्सरता से मनुष्यपन उपजावे। जीव हिंसा से निवृत्त होना, निश्चय दया एवं निश्चय संवर है, तथा यदि दूसरे जीव को दुःखी देखकर अनुकम्पा लावे, उसके दुःख को दूर करने का उपाय करे यह व्यवहार दया कहलाती है।

यहां कई लोग ऐसा कहते हैं कि दूसरे को हनन नहीं करना ही दया है परन्तु दूसरे का दुःख दूर करना तो राग का उदय है और राग तो पाप है इसलिये दूसरे जीव का हनन करे नहीं दूसरे से हनन करावे नहीं तथा दूसरा हनन करे उसका अनुमोदन नहीं करे। यदि दूसरा करता हो तो उसे उपदेश देवे पर जीव पर अनुकम्पा नहीं लावे, दूसरे जीव पर अनुकम्पा लाकर उसे दुख से बचाना असंयम जीवितव्य की वांच्छा है, उस जीव पर राग आया परन्तु भगवान ने तो राग द्वेष दोनों को ही कर्म के बीज फरमाये हैं, अतः मारे तो जीव हिंसा का पाप लगे तथा धर्म जानकर मारते हुए को बचावे तो मिथ्यात्व लागे, अट्ठारह पाप लागे, ऐसी प्ररुपणा करने वाले के हृदय में अनुकम्पा नहीं होती है। ऐसी प्ररुपणा अनार्यों का कार्य है जो निर्दय होते हैं वे ऐसा कहते हैं ऐसा कहने वाला सभी व्यवहार का उत्थापक है। यदि जीव हिंसा से निवर्तने में धर्म है, तो फिर दूसरे प्राणी का उद्धार करने में धर्म क्यों नहीं? यदि असत्य वचन की निवृति से धर्म है तो सत्य भाषण से धर्म नहीं? उनकी दृष्टि से तो सर्व प्रभुता के भाव नष्ट हो जाते हैं परन्तु सूत्र में तो अनुकम्पा स्थान २ पर बताई है। श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक में दूसरे जीव को दुःख देने से अशाता वेदनी

ममता मिटाई उसे व्रत कहते हैं, निन्द्रा आदि विकथा आलस्य से निवृत होना और चित्त में उद्यम व उत्साह रखना यह अप्रमाद कहलाता है चार कषाय तथा नौ नौ कषाय को जीतना हर्ष, उत्साह शोक रहित तृण के समान किया लोष्टवत् कांचन; रशा तुल्य चन्दन से वीतराग पणा रूप अकषाय संवर कहलाते हैं। चार कषाय और मन, वचन, काया के अशुभ योग निवृत होना एवं शुभ योग की प्रवृति करना यह योग संवर कहलाता है। यह तो व्यवहार नय की अपेक्षा से कहा है। निश्चय नय में तो शुभ अशुभ दोनों योग आश्रव कहलाते हैं अशुभ योग से अशुभ कर्म ग्रहण करता है, शुभ योग से शुभ कर्म ग्रहण करता है। योग का स्वभाव तो कर्म ग्रहण करने का है। इसलिये योग तो आश्रव है, अतः सर्व योग से निवृत्ति पाना शैलेशी बनना, अयोगी अवस्था में रहना, इसे अयोग संवर कहते हैं। सर्व संवर का स्वामी चौदहवें गुणस्थान में है। तेरहवां गुणस्थान पर्यन्त सर्वथा संवर नहीं है ऐसे पांच भेद कहे हैं—हिंसा आदि पांच आश्रव से निर्वत्तना संवर है पांच इन्द्रिय, तीन योग इन आठों का निरोध करना भंडोपगरण सुचि कुसग की प्रवति नहीं करना बावीस परिषहों को जीतना, पांच समिति, तीन गुप्ति, दस प्रकार का यति धर्म, बारह भावना, पांच चारित्र इत्यादि संवर

के भेद जितने जितने निवर्तें भाव में है वह निश्चय संवर है। जितने जितने प्रवृत्ति भाव है वह व्यवहार संवर है। जैसे शुभ योग का प्रवर्तना भंडोपगरण, सुची कुस्सग्ग का यत्ना पूर्वक प्रवर्ताना ये सब आश्रव है इनसे शुभ कर्म बंधते हैं जहां पुण्य बंधता है वहां निश्चय निर्जरा है, निर्जरा की करणी से पुण्य पुण्य बंधता है, निर्जरा की करणी के बिना पुण्य बन्ध नहीं होता है। पुण्य आने के द्वार तो शुभ आश्रव है। इसलिये श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्याय में 'वदंणयाएणं नियागोयं कम्मं खवेइ, उच्चा गोयं कम्मं निबंधइ' कहा है। यहां वन्दन से नीच गोत्र क्षय हो, वह निर्जरा उच्च गौत्र बंधन करे वहां पुण्य प्रकृति बांधी. इसलिये ये बन्ध द्वार है तथा जहां शुभ योग की प्रवृत्ति हो वहां निश्चय अशुभ योग का निषेध है, इसलिए शुभ योग प्रवर्तने से शुभ आश्रव होता है, शुभ बंध, पुण्य प्रकृति का होता है तथा अशुभ योग रोकने से संवर उत्पन्न हुआ है, इनसे आते हुए कर्म रुके इसलिये जहां समिति गुप्ति की नियमा है तथा जहां गुप्ति वहां समिति भजना है परन्तु कारण शुभ योग है अतः शुभ आश्रव है, परन्तु संवर नहीं, इसलिये श्री समवायांग सूत्र में 'पंच संवरदारा पन्नते तंजहा १ सम्मतं, २ विरइ, ३ अप्पमाओ, ४ अकसाइ ५ अजोगीतं, पंच आसवदारा पन्नते

तंजहा १ मिच्छते २ अविरइ ३ पमाया ४ कसाया ५ जोगा इस न्याय से जो योग वह आश्रव इसलिये वीतराग को ११वें, १२वें, १३वें गुणस्थान में भी योग के प्रभाव से इरियाबहि क्रिया लगती है इस कारण सयोगी जीव पानी के समान क्षण मात्र निश्चल नहीं रह सकते, इसलिये सूक्ष्म क्रिया लगती है जिसकी दो समय की स्थिति है, उस समय अशुभ योग तो नहीं पर शुभ योग से कर्म बंधता है। वीतराग के कषाय का उदय मिटा, जिससे अनुभाग बंध नहीं होता है स्थिति भी नहीं, चौदहवें गुणस्थान में आश्रव नहीं है अतः कर्म भी नहीं बन्धे श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्याय में 'काय गुत्तायाएणं संवरं जणयइ संवरेण कायगुत्ते पुणो पावासव निरोहं करेइ' संवर से पाप पुण्य दोनों का निरोध होता है। संवर निश्चय नय में तो सम्यकदृष्टि के होता है, परन्तु द्रव्य संवर सब संसारी जीवों के होता है, संवर के मूल भेद तो सम्यकदृष्टि के बिना दूसरों के नहीं होते हैं तथा क्षमाभाव, समभाव, दमभाव, नम्रभाव, सत्यशील, दया के परिणाम, शुभ अध्यवसाय सब जीवों के पास होते हैं, इस कारण अनुकंपा अमत्सरता से मनुष्यपन उपजावे। जीव हिंसा से निवृत्त होना, निश्चय दया एवं निश्चय संवर है, तथा यदि दूसरे जीव को दुःखी देखकर अनुकम्पा लावे, उसके दुःख को दूर करने का उपाय करे यह व्यवहार दया कहलाती है।

यहां कई लोग ऐसा कहते हैं कि दूसरे को हनन नहीं करना ही दया है परन्तु दूसरे का दुःख दूर करना तो राग का उदय है और राग तो पाप है इसलिये दूमरे जीव का हनन करे नहीं दूसरे से हनन करावे नहीं तथा दूसरा हनन करे उसका अनुमोदन नहीं करे। यदि दूसरा करता हो तो उसे उपदेश देवे पर जीव पर अनुकम्पा नहीं लावे, दूसरे जीव पर अनुकम्पा लाकर उसे दुख से बचाना असंयम जीवितव्य की वांच्छा है, उस जीव पर राग आया परन्तु भगवान ने तो राग द्वेष दोनों को ही कर्म के बीज फरमाये हैं, अतः मारे तो जीव हिंसा का पाप लगे तथा धर्म जानकर मारते हुए को बचावे तो मिथ्यात्व लागे, अट्ठारह पाप लागे, ऐसी प्ररुपणा करने वाले के हृदय में अनुकम्पा नहीं होती है। ऐसी प्ररुपणा अनार्यों का कार्य है जो निर्दय होते हैं वे ऐसा कहते हैं ऐसा कहने वाला सभी व्यवहार का उत्थापक है। यदि जीव हिंसा से निवर्तने में धर्म है, तो फिर दूसरे प्राणी का उद्धार करने में धर्म क्यों नहीं ? यदि असत्य वचन की निवृति से धर्म है तो सत्य भाषण से धर्म नहीं ? उनकी दृष्टि से तो सर्व प्रभुता के भाव नष्ट हो जाते हैं परन्तु सूत्र में तो अनुकम्पा स्थान २ पर बताई है। श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक में दूसरे जीव को दुःख देने से असाता वेदनी

कर्म बंधते हैं, दूसरे जीव पर अनुकम्पा करने से तथा उसके दुःख दूर करने से शाता वेदनी कर्म बंधते हैं ऐसा कहा है। परन्तु 'दूसरे को बचाते हुए राग कर्म बांधे' ऐसा वचन यदि किसी स्थान पर हो तो निकाल कर दिखाओ। सूत्र में ऐसा पाठ मिलता ही नहीं है, इसलिये जो ऐसी प्ररुपणा करते हैं वे वीतराग भगवान की आज्ञा के बाहर है, स्वयं स्वच्छन्द रूप से बोलने वाले प्रतीत होते हैं। क्योंकि राग के तीन भेद है १ काम राग वह स्त्री पुरुष का २ स्नेह राग वह माता पुत्र का तथा ३ दृष्टि राग वह मिथ्यात्व से स्नेह करना, इन तीनों प्रकार के राग से जीव कर्म बंधन करता है, परन्तु धर्म राग में पाप नहीं है।

दूसरे जीव पर अनुकम्पा करते हुए कौनसा राग उत्पन्न हुआ? क्या वह जीव का सम्बन्धी है? या कमा कर देगा? उसका तो दया के प्रति राग है। यदि दया पर राग आने से पाप होता है तो साधु घर पधारते हैं, तब श्रावक को राग उत्पन्न होता है, अतः उसको भी तुम्हारी मान्यतानुसार पाप लगता होगा, राग सहित सूझता आहार पानी देने से भी पाप लगता होगा? सत्य, शील पर तथा अरिहंत आदि पर राग करते समय भी पाप लगता होगा? ए! मित्रों यह तो धर्म राग है, पाप नहीं।

फिर दया पर राग आने से पाप कैसे हो सकता है ? इस पर विचार करो तथा सराग संयम धर्म है या पाप ? यदि पाप है तो संसार के भय से उद्विग्न बने उसमें भी पाप है, संयम तथा श्रावकपन में अनुरक्त है, सूत्र में स्थान स्थान पर 'अट्ठिमिज्जा पेमाणु राग रत्ता' कहा है अतः अनुराग में भी पाप होगा ? परन्तु किसी भी सूत्र में अनुकंपा में पाप नहीं फरमाया है ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बाइसवें अध्याय में नेमिनाथ भगवान ने पशु छुड़ाये वहां कोई कहे कि—भगवान ने तो अपना पाप मिटाया अतः ऐसा कहने वाले से कहना चाहिए कि—सूत्र में 'साणुक्कोसे जीए हेऊ' अर्थात् अनुकंपावंत बताये हैं जीवों का हित चिंतन करते हैं ऐसा कहा है पर अपना हित चिंतन करते हैं ऐसा क्यों नहीं कहा है ? फिर कोई कहे कि—जीव तो मारने से मरता नहीं है यह तो हड्डियों का रखवाला है अपने अपने कर्मों से पचते हैं, जीव का उद्धार करने में कौन समर्थ है ? उसका उत्तर—यदि जीव मारने से नहीं मरता और कोई उद्धार करने में समर्थ नहीं, अपने अपने कर्मों से पचते हैं तो फिर जीव मारने का पाप भी नहीं यदि मारने से पाप है तो उद्धार करने से धर्म भी है । यदि उद्धार करने से धर्म नहीं है तो मारने से पाप भी नहीं फिर यह बताओ कि जीव मारने

को बचाने वाले के परिणाम कठोर है या कोमल ? यदि परिणाम कोमलता के हैं और उत्तम लेश्या युक्त अनुकम्पा होगी तो पुण्य ही होगा, तथा साधु को छः काया का पिहर कहा है, छः काया के जीव साधु के लिए पुत्र पुत्री समान है तो फिर जो अपने पुत्र पुत्री को हने हनावे दूसरा हनन करता हो उसे मना नहीं करे, दूसरा कोई मना करता हो उसे भला नहीं जाने बल्कि बुरा किया जाने तो फिर उसको पिता कहें या वैरी कहें ? उन्हें तो भूत जानें तथा साधु बनकर छः काया के जीवों का हनन करते मना नहीं करे और जो मना करे उसे कर्म किया जाने उसे छः काया का पिता नहीं माने, उसे तो छः काया का वैरी कहें। ऐसी श्रद्धा वालों में समकित तथा चारित्र के लक्षण नहीं होते हैं, क्योंकि समकित के लक्षण में तो अनुकम्पा है, अतः अनुकम्पा बिना समकित कैसे रहे ! श्री भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में भगवान ने गोशाला को अनुकंपा के निमित्त ही बचाया, उसे एकांत पाप कैसे कहते हैं ? फिर भगवंत ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् गोतम स्वामी से कहा "हे गोतम ! मैंने अनुकम्पा निमित्त, दया निमित्त गोशाला को बचाया' ऐसा कहा है, परन्तु मैंने मोह किया, पाप किया अथवा मैंने भूल की ऐसा नहीं कहा ! तो क्या भगवान ने स्वयं का दोष छिपाया ? नहीं,

ऐसा कदापि नहीं अपितु भगवान ने तो जैसा किया वैसा कहा, यह तो अनुकम्पा थी अतः अनुकम्पा फरमाई, यदि पाप होता तो पाप फरमाते, भगवान तो वीतराग पुरुष थे, वे अपने दोष कभी नहीं छिपाते। यहां कोई कहे कि यदि भगवन्त धर्म जानते थे तो फिर अपने दो शिष्यों को क्यों नहीं बचाये ? उसका उत्तर उस समय भगवन्त वीतराग भाव से अर्थात् केवल ज्ञान से उनके आयुष्य का अंत जानते थे तथा अवश्यंभावी भाव कभी नहीं मिटते फिर केवली के परिणाम अवस्थित होते हैं हायमान वर्द्धमान नहीं होते छद्मस्त के तीनों परिणाम है केवली को तप करने के तथा विनय वैयावच्च करने के परिणाम भी नहीं होते किन्तु छद्मस्थ में होते हैं, तो क्या छद्मस्थ को पाप लगता है ? पर ऐसा जानना कि केवली का आचार भिन्न है इसलिये भगवन्त को पाप नहीं लगा एवं प्रायश्चित भी नहीं लिया। तथा गोशाला का कार्य आश्चर्यभूत (अच्छेरा) माना गया है, श्री उपासक दशा सूत्र में श्रेणिक राजा ने कसाई खाना बन्द कराया जिसका उसे पाप हुआ हो ऐसा सूत्र में नहीं कहा है, जो पाप कहते हैं वे सूत्र के विराधक है।

यहां कोई कहते है कि धर्म कहां फरमाया ? उत्तर— सूत्र में स्थान स्थान पर "माहणो माहणो" शब्द कहा है.

यह माहणो शब्द धर्म है या पाप ? तब वे कहे कि धर्म है तो फिर श्रेणिक राजा ने पाप किया ऐसा कैसे कहते हो ? श्रेणिक राजा के लिये भी माहणो माहणो शब्द कहा है, 'हणो हणो' ऐसे शब्द तो नहीं फरमाये। और जो ढिंढोरा फिरवाया था सो तो गृहस्थ का कार्य है, उसमें क्या हिंसा हो ? उसे साधु धर्म कैसे कहे ? धर्म तो जीव रक्षा में है, श्री उत्तराध्ययन सूत्र के इक्कीसवें अध्याय में सब जीवों पर अनुकम्पा करना कहा तथा इसी सूत्र के उन्नतीसवें अध्याय में दूसरे जीव को दुःखी देखकर तत्काल कंपित हो उसे सुखशय्या कहा, फिर श्री ज्ञाता सूत्र में मेघकुमार ने हाथी के भव में शशक की दया पाली वहां अनुकम्पा से संसार परित करना कहा पर अपना पाप टालने का सूत्र में नहीं कहा, एकांत जीव दया कीधी जिससे धर्म हुआ तो फिर दूसरों को पाप कैसे होगा ? यहां कोई कहे कि दूसरा किसी जीव को हनन करता है तो उसका पाप उसी को लगता है दूसरों को इस झगड़े में क्यों पडना चाहिये ? अपने को कौनसा पाप लगता है ? उत्तर—श्री उपासक दशा सूत्र में भगवन्त ने गोतमस्वामी को महाशतकजी के घर क्यों भेजा ? भगवन्त को कौनसा पाप लगा ? दूसरे के झगड़े में क्यों पड़े ? परन्तु ऐसा नहीं जो उपकारी होते हैं वे तो उपकार ही करेंगे। फिर

श्री भगवती सूत्र के बारहवें शतक में शंख पुष्कली को क्रोध करते समय भगवन्त ने क्यों मना किया ? परन्तु क्रोध करना पाप है इसलिये पाप करते मना किया। जब क्रोध करते समय मना किया तो हिंसा करते हुए को मना करे तो इसमें क्या दोष है ? तथा श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के पहले अध्याय कहा है कि सब जगत के जीवों की रक्षा हेतु भगवन्त ने शास्त्र प्ररूपित किये हैं। तो संसार के जीव तो स्वयं अपने अपने कर्मों करके पचते थे, भगवन्त को कौनसा पाप लगता था ? परन्तु उन्होंने धर्म की वृद्धि हेतु उपकार किया है। इसलिए दूसरे भी बचाते हैं तो उपकार के निमित्त ही बचाते हैं।

फिर श्री शांतिनाथ भगवान चरित्र में मेघरथ राजा ने कबूतर की रक्षा की, पार्श्वनाथ भगवान ने जलते हुए नाग नागिन को बचाया, मदन रेखा और पद्मावती ने राजाओं के झगड़े मिटाये ऐसे अनेक स्थानों पर दया का अधिकार पढने को मिलता है, कोई कहे कि साधु उपदेश देवे कि 'जीव मारने का कड़वा फल है परन्तु आज्ञा नहीं देवे' उसका उत्तर है कि श्री उत्तराध्ययन सूत्र के १३वें अध्याय में चित्त मुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को आदेश किस प्रकार दिया कि 'अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं' हे राजन् ! जो तूं भोग नहीं छोड़ता है तो आर्य कर्म कर। मद्य मांसादि का

यह माहणो शब्द धर्म है या पाप ? तब वे कहे कि धर्म है तो फिर श्रेणिक राजा ने पाप किया ऐसा कैसे कहते हो ? श्रेणिक राजा के लिये भी माहणो माहणो शब्द कहा है, 'हणो हणो' ऐसे शब्द तो नहीं फरमाये। और जो ढिंढोरा फिरवाया था सो तो गृहस्थ का कार्य है, उसमें क्या हिंसा हो ? उसे साधु धर्म कैसे कहे ? धर्म तो जीव रक्षा में है, श्री उत्तराध्ययन सूत्र के इक्कीसवें अध्याय में सब जीवों पर अनुकम्पा करना कहा तथा इसी सूत्र के उन्नतीसवें अध्याय में दूसरे जीव को दुःखी देखकर तत्काल कंपित हो उसे सुखशय्या कहा, फिर श्री ज्ञाता सूत्र में मेघकुमार ने हाथी के भव में शशक की दया पाली वहां अनुकम्पा से संसार परित करना कहा पर अपना पाप टालने का सूत्र में नहीं कहा, एकांत जीव दया कीधी जिससे धर्म हुआ तो फिर दूसरों को पाप कैसे होगा ? यहां कोई कहे कि दूसरा किसी जीव को हनन करता है तो उसका पाप उसी को लगता है दूसरों को इस झगड़े में क्यों पडना चाहिये ? अपने को कौनसा पाप लगता है ? उत्तर—श्री उपासक दशा सूत्र में भगवन्त ने गोतमस्वामी को महाशतकजी के घर क्यों भेजा ? भगवन्त को कौनसा पाप लगा ? दूसरे के झगड़े में क्यों पड़े ? परन्तु ऐसा नहीं जो उपकारी होते हैं वे तो उपकार ही करेंगे। फिर

वहती देखे तो वाहर निकाले, किसी समय साध्वी के शील की रक्षा करने हेतु साधु साथ भी रहे पडिमाधारी को जलती अग्नि में से वाहर निकाले इत्यादि स्वयं के कार्य करे. संभोगी का करे, वहां साधु आज्ञा नहीं देवे, उसी तरह निषेध भी नहीं करे, अपना दोष टालने के लिए करने नहीं दे, ज्ञेय पदार्थ जानते हैं परन्तु गृहस्थी में एकांत पाप कैसे होवे ? यदि साधु के गुण है तो गृहस्थी के अवगुण कैसे होवे ? तथा गृहस्थी के लिए साधु इतने कार्य नहीं करे, नहीं करावे गृहस्थी को मारता हो तो उसे निषेध नहीं करे, अनुमोदन भी नहीं करे, जितनी जितनी जीव रक्षा हो उतना ही धर्म है, जितना जितना अधर्म है उतना अव्रत कषाय का उदय है, उतना पाप है।

यहां कोई कहे कि जबरदस्ती छुड़ावे तो जबरदस्ती छुड़ाने से धर्म नहीं होवे। कोई स्त्री भागती हो, क्लेश वश जाती हो, पागल हो, कुंए में पड़ती हो, पति द्वारा ले जायी जाती हो उसे साधु कैसे छोड़े ? कैसे पकड़े ? परन्तु शील रखने के व अनुकम्पा के शुभ परिणाम है, व्यवहार में धर्म है इसलिए निषेध नहीं करे। दया आदि सब संवर की करणी है संवर तो निवृत्ति भाव है तथा प्रवृत्ति भाव तो शुभ आश्रव है. इसलिए प्रवृति भाव की आज्ञा तो साधु गृहस्थी को मन योग की तथा वचन योग की देते

त्याग कर, पंचेन्द्रिय घात आदि भारी कुकर्म न कर। यह गृहस्थी का धर्म है। सब जीवों पर अनुकम्पा करने से भी देवता होता है तथा उसी सूत्र के अठारहवें अध्याय में 'अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभय दाया भवाहिय' संयति राजा को गर्दभाली मुनि ने कहा 'हे राजन् तुझे मेरे से अभय है तू भी सब जीवों का अभय दान का दाता बन।' फिर इसी सूत्र के पच्चीसवें अध्याय में जयघोष मुनि ने विजय घोष से कहा 'तूं शीघ्र संयम धारण कर' इत्यादि अनेक स्थानों पर आदेश दिया है। इसलिये दया, सत्य, शील, क्षमा, वैराग्य, तपस्या, दीक्षा तथा व्रत पचक्खाण आदि के आदेश देने में दोष नहीं, साधु गृहस्थ को कहे कि भाई! व्याख्यान सुनो; सामयिक, पौषध, प्रतिक्रमण करो सचित व कंदमूल आदि का त्याग करो इत्यादि वचन सर्वथा दोष रहित है। किन्तु यही सराग भाव से स्वार्थ-वश तथा स्वयं के आहार पाणी वस्त्रादि लाभ के निमित्त से भाषा का प्रयोग करेगा तो साधुता में कमी आयगी परन्तु भाषा में दोष नहीं है। फिर गृहस्थी के अनेक कार्य है जिन्हें साधु न करता है न कराता है और न अनुमोदन ही करता है स्वयं गृहस्थी करते हैं वहां साधु पाप नहीं कहते अपितु ज्ञेय पदार्थ जानते हैं, उसका निषेध नहीं करे, स्वयं के स्वामी का कार्य करे साध्वी को नदी में

भगवती सूत्र के सातवें शतक में 'कम्मं वेयणा' एवं 'कम्मं निज्जरा' कहा है, वेदन करना कर्म है। निर्जरा करना कर्म नहीं। वेदना अलग है तथा निर्जरा अलग। इसलिए बिना उपयोग से करे वह द्रव्य निज्जरा तथा मिथ्यात्व की करणी निन्हवादि कुदर्शनियों की करणी द्रव्य निज्जरा है और समकित दृष्टि की करणी भाव निज्जरा है निर्जरा के दो भेद–१ अकाम निज्जरा और २ सकाम निज्जरा। यदि मन की अभिलाषा बिना भूख, तृषा, शीत, ताप आदि परिषह सहन करे, ब्रह्मचर्य आदि पाले वह अकाम निर्जरा, मन के उत्साह सहित शीत, ताप आदि सहन करना तपस्या करना ब्रह्मचर्य पालन करना सकाम निर्जरा है। तथा सब संसारी जीवों के समय समय पर बिना उपयोग से सात आठ कर्म टूटते हैं उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। मुक्ति के फल की अपेक्षा विचार किया जाय तो मिथ्यादृष्टि की दान शील, तप, पढ़ना, मनन करना आदि सब क्रियाओं को सूत्रगडांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्याय में कर्म बन्ध का कारण बताया है परन्तु निर्जरा का कारण नहीं यह कथन निश्चय नय से परिज्ञा की अपेक्षा है परन्तु दूसरा अर्थात् व्यवहार नय से मिथ्यात्व शुभ करणी से अशुभ कर्म क्षय होते हैं और शुभ कर्म बांधते हैं देवता प्रमुख की गति प्राप्त करता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के

हैं, परन्तु काय योग की आज्ञा नहीं दे, उसका क्या कारण है? उसका उत्तर है कि मन वचन (यहां मूल पुस्तक में काया के योग को भी चौस्पर्शी में लिया है जो भगवतीसूत्र शतक १२ उद्देश्य ५ के पाठ से विपरीत है। इसलिए यहां से काम योग को हटा दिया है) का योग चौस्पर्शी है, इसलिए नई हिंसा नहीं होती तथा काया का योग आठ स्पर्शी है. इसलिए किसी समय अयत्ना का स्थान है, इसलिए साधु गृहस्थी को प्रवृत्ति भाव में दो योग की आज्ञा देते हैं, परन्तु साधु गृहस्थी को काय योग की आज्ञा नहीं देते तथा संभोगी को देते हैं परन्तु संवर वह धर्म है। इस प्रकार संवर तत्व का परिचय हुआ।

निर्जरा तत्त्व का परिचय कराते हैं, इसमें दो योग की आज्ञा दी है, काय योग की आज्ञा साधु को क्षय किये हुए पद्गल विपाक से तथा प्रदेश से उदय आने पर वेदना भोगकर स्थिति पूर्ण कर क्षय किये तथा १२ भेदी तपस्या से क्षय किये कर्मों के पुद्गल निर्जर निर्जरे ऐसे पुद्गलों को द्रव्य निर्जरा कहते हैं तथा जिन पुद्गलों के निर्जरने से अर्थात् क्षय करने से जीव उजला हुआ तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपक्षम से तपस्या आदि का करना भाव निर्जरा है परन्तु वास्तव में तो निर्जरा का जीव को शुद्ध करने का स्वभाव है, इस कारण जीव का गुण जानना। क्योंकि

जीव को पाप नहीं लगता है' ऐसा कहने वाले दुर्वचन के बोलने वाले दुष्ट परिणाम के स्वामी है, यदि ऐसा हो तब तो जप, तप, क्रिया सभी निर्थक हो जाती है, किन्तु ऐसा नहीं है निर्जरा शुभ परिणाम से होती है। भोग तो बंध के हेतु हैं, लेकिन समकित के कारण तीव्र बंध नहीं पड़ते। श्री आचारांग सूत्र के पहिले श्रुतस्कन्ध के तीसरे अध्याय में 'समदिट्ठी न करेइ पावं' कहा है जिसका कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि समकित दृष्टि को पाप नहीं लगता, यह बात एकान्त दुर्नय की स्थापना है। क्योंकि श्री भगवती सूत्र के छव्वीसवें शतक के सत्ताइसवें उद्देश्य में कहा है कि नव में गुणस्थान तक पाप लगता है। पाप के बंध की अपेक्षा समकित दृष्टि के बंध के कारण के चार चार भांगे मिलते हैं, इसलिए सरागी को पाप तो समय समय पर लगता है वीतरागी को नहीं लगता है तथा इस पद में तो गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं कि—हे! शिष्य जन्म मरण और जरावस्था के दुख देखकर समकित दृष्टि पाप नहीं करते हैं, इस प्रकार यह उपदेश वचन है तथा दूसरा अर्थ 'पर मंति चच्चा' परम मुक्ति का कारण जानकर मुक्ति निमित्त समदृष्टि पाप नहीं करते हैं। फिर तीसरा अर्थ समकित दृष्टि होने के पश्चात् संसार में १५ भव करे अधिक नहीं करे। क्योंकि समकित दृष्टि होने पर तीव्र

सातवें अध्याय की १६वीं गाथा में 'लाभो देव गइ भवे' कहा है यह व्यवहार नय की अपेक्षा समुच्चय वचन कहा है फिर श्री भगवती सूत्र के आठवें शतक के दसवें उद्देश्य में आराधिकपन कहा है, इसलिए क्रिया का फल मीठा है लेकिन समकित के विना मुक्ति नहीं है इसलिए अकाम निर्जरा एक व्यवहार नय में ही कही है किन्तु समकित दृष्टि की जितनी भी क्रिया है वे सब मुक्ति का कारण है शुभ क्रिया से कर्म क्षय होते हैं अर्थात् अशुभ विषय कषाय आदि सेवन करने से पूर्व में जो कर्म बन्धे थे वे क्षय होते हैं, शुभ भोगावली कर्म भोगे बिना नहीं छूटते हैं इसलिए भोगते हैं परन्तु उन्हें विरक्त भाव से रूक्ष भावों से सेवन करते हैं अन्तरगत भाव से संसार में नहीं लुभावे, जिस प्रकार धाय माता बालक को खिलाती है परन्तु अन्तर हृदय में स्वयं का नहीं जानती है उसी प्रकार उदासीन भाव से विषय आदि सेवन करते हैं, मिथ्यात्व रूप, रस के विना चिकने कर्म नहीं बांधते हैं, सम्यकदृष्टि रस से अल्प कर्म बांधते हैं तथा समकित दृष्टि जीव के अशुभ लेश्या में आयुष्य का बंध नहीं होता है। इसलिए पूर्व संचित कर्म की निर्जरा होती है।

यहां कोई ऐसा कहे कि 'ज्ञानवंत के भोग सभी निर्जरा के कारण है, परन्तु बंध के कारण नहीं,, समकित दृष्टि

लेशी, राग द्वेष पतला कर नवग्रेवेयक तक जाने वाले की अपेक्षा समकित दृष्टि महा आरम्भ परिग्रहवन्त महाकषायी, अशुभ योगी, हिंसक, कृष्णलेशी होते हुए भी अल्पकर्मी है, अल्प आश्रवी है निश्चय शीघ्र मोक्ष गामी है इसलिए जो धर्मी है उसे ज्ञान दर्शन दोनों साधना का धर्म है, एक चरित्र साधना नहीं है। किन्तु मिथ्यात्वी के तो ज्ञान दर्शन दोनों नहीं है एक द्रव्य चारित्र है जिस कारण से पांच आश्रव के पांच अंक हल्के हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि के तो पहला अंक है ही नहीं अतः चार अंक भारी होवे तब भी पांच को नहीं पहुँच सकते हैं इसलिए समकित दृष्टि की सकाम निर्जरा है ऐसी निर्जरा शुभ योग से उत्पन्न होती है, इस निर्जरा के अनशन आदि बारह भेद है जो सब जीवों पर है, उत्तम करणी से कर्म निर्जरा होती है, तप करना, ध्यान धरना, सूत्र पढना मनन करना, सीखना, धर्म कथा करना, निर्दोष स्थान सेवन करना, कायोत्सर्ग करना, विनय वैयावच्च करना, प्रायश्चित लेना, रस त्याग करना, भीक्षाचरी में अभिग्रह कर घूमना, उणोदरी तप करना आदि निर्जरा के स्थान है। ऐसी निर्जरा से कर्म क्षय होते हैं, अन्तर आत्मा शुद्ध होती है इसलिए धर्म कहते हैं इस प्रकार निर्जरा तत्त्व का परिचय हुआ।

बंध तत्त्व का परिचय देते हैं—शिष्य ने गुरु से पूछा

भाव से पाप नहीं करते हैं इसलिए अधिक बंध नहीं होता परन्तु पाप कार्य में भाव नहीं रखे तभी १५ भव का वर्णन है, क्योंकि समकित प्राप्त करने के वाद मिथ्यात्व की करणी कर पाप कर्म नहीं करता है इसलिए समय समय पर कर्म हल्के होते हैं, समय समय पर कर्म बंधते भी हैं, निर्जरा भी होती है, परन्तु बंध अल्प है, निर्जरा अधिक है किसी करणी से अधिक बंध होते हैं, किसी करणी से अधिक निर्जरा होती है, परन्तु निर्जरा की अपेक्षा बंध अल्प होते हैं, इसलिए शुद्ध होकर मुक्ति पाता है, मिथ्यात्वी के समय समय पर कर्म बंधते हैं तथा समय समय पर टूटते हैं पर किसी अवस्था में अधिक बंधते हैं और अल्प टूटते हैं इसलिए भारी होते हैं और इकेन्द्रियादि जाति में या नर्क आदि गति में उत्पन्न होते हैं, किसी समय अल्प बंधते हैं तथा अधिक निर्जरते हैं जिससे तूंवड़ी के समान हल्का होकर उत्कृष्ट नव ग्रेवेयक तक उत्पन्न होते हैं परन्तु निश्चय में मुक्ति का मार्ग नहीं है। संसार में सुख दुख दोनों पाते है शुभ क्रिया का फल मीठा है उन्हें भोगे। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा समकित दृष्टि निश्चय में अधिक है, यदि कोई मिथ्यात्वी, वाल तपस्वी तथा निन्हवादी अल्प-मिथ्यात्वी आरम्भ, परिग्रह रहित, अप्रमत्त कषाय का उपशमन कर शुभ योग शुभ ध्यान में वर्तने वाला शुल्क

जीव कर्म रहित है तो संसार में सुख दुःख कैसे पाते हैं ? यदि कर्म रहित जीव संसार में भ्रमण करेंगे तो सिद्ध भी भ्रमण करेंगे. परन्तु वे घूमते नहीं हैं इसलिए नहीं मिलती है। (४) प्रश्न—हे स्वामिन् ! जीव का स्वरुप कैसा है ? उत्तर—जीव तथा कर्म इन दोनों का अनादि काल का संयोग है। नये उत्पन्न नहीं हुए। (५) प्रश्न—हे स्वामिन् जीव तथा कर्म का अनादि काल का संयोग है तो जीव व कर्म का संयोग कैसे छूटता है ? उत्तर—जैसे धातु और मिट्टी का संयोग अनादि का है किसी ने किया नहीं परन्तु अग्नि के संयोग से दोनों ही अलग होते हैं, उसी प्रकार जीव व कर्म का संयोग ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप के उपाय से छूटता है। जीव व कर्म अलग अलग होते हैं। (६) प्रश्न—हे स्वामिन् ! कर्म किसने किये तथा कर्म करने का स्वाभाव किसका है ? उत्तर—व्यवहार नय से तो जीव ने कर्म किये हैं परन्तु निश्चय नय से तो जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है। कर्म का कर्ता कर्म है कि कर्म का कर्ता आश्रव है ? यदि जीव करता है तो सिद्ध भी जीव है वे क्यों नहीं करते ? उत्तर—संयोगी जीव कर्म सहित है अतः वह पुराने कर्मों से नये कर्म ग्रहण करता है, इस न्याय से कर्म का कर्ता कर्म है। द्रव्य कर्म वर्णादि सहित कर्म वर्गणा के चौस्पर्शी स्कन्ध द्रव्य कर्म को ग्रहण

कि हे स्वामी ! पहिले कर्म तथा बाद में जीव यह बात मिलती है या नहीं ? गुरुजी ने फर्माया कि हे शिष्य ! यह बात नहीं मिलती है। तब शिष्य ने कहा यह बात कैसे नहीं मिलती? उत्तर—जीव बिना कर्म किसने किया? इस कारण से उपर्युक्त बात नहीं मिलती है। (१) फिर शिष्य ने पूछा कि हे स्वामिन् ! पहले जीव तथा बाद में कर्म यह बात मिलती है कि नहीं ? गुरुजी ने कहा, यह बात भी नहीं मिलती, शिष्य ने कहा यह बात क्यों नहीं मिलती ? गुरुजी ने कहा यदि पहिले जीव कर्म रहित है तो नये कर्म लगते हैं ऐसा मानना होगा और जब जीव के नये कर्म लगेंगे तो अजीव को भी लगेंगे, सिद्ध को भी लगेंगे जो कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए यह बात नहीं मिलती है। (२) शिष्य ने पूछा कि हे स्वामिन् ! जीव तथा कर्म दोनों साथ ही उत्पन्न हुए यह बात मिलती है कि नहीं ? गुरुजी ने फरमाया कि यह भी नहीं मिलती है। प्रश्न—क्यों नहीं मिलती ? उत्तर— ऐसा करने से जीव तथा कर्म दोनों की आदि होगी नये उत्पन्न हुए मानना होगा, यदि जीव नये उत्पन्न होंगे तो संसार में नहीं समायेंगे इसलिए नहीं मिलती है। (३) प्रश्न—हे स्वामिन् ! जीव कर्म रहित है यह बात मिलती है कि नहीं ? उत्तर—नहीं मिलती। प्रश्न—क्यों नहीं मिलती ? उत्तर—यदि

कहा है इसलिए घड़ा का कर्ता घड़ा है ऐसे ही जीव को भी कर्म कहते हैं इसलिए कर्म का कर्त्ता कर्म है पर जीव नहीं।

बंध के चार भेद कहते हैं—(१) प्रकृति बन्ध (२) स्थिति बन्ध (३) अनुभाग बन्ध तथा (४) प्रदेश बन्ध इनका अर्थ जानने के लिए मोदक का दृष्टान्त कहते हैं। जैसे कोई लड्डु वायु का शमन करता है, कोई पित्त का शमन करता है कोई श्लेश्म का शमन करता है कोई धातु की वृद्धि करता है, इसी तरह कोई प्रकृति ज्ञान का आवरण करती है, कोई दर्शन का आवरण करती है, कोई चरित्र का आवरण करती है, कोई सुख देती है, कोई दुख देती है; उसे प्रकृति बन्ध कहते हैं।१

जैसे किसी मोदक (लड्डु) की स्थिति पन्द्रह दिन की किसी की एक मास की तत्पश्चात् विनाश हो जाता है वैसे ही किसी प्रकृति की बीस क्रोडा क्रोड़ी सागर की स्थिति किसी की तीस क्रोड़ा क्रोड़ी सागर की स्थिति किसी की ७० क्रोड़ाक्रोड़ सागर की स्थिति होती है इतने समय परमाणु सत्ता में रहे फिर नाश हो जावे उसे स्थिति बन्ध कहते हैं।२

जैसे कोई लड्डु चार गुणी शक्कर के रस में बनते हैं कोई तिगुनी, कोई दुगुनी तो कोई बराबर शक्कर में बनते हैं इसी प्रकार कोई प्रकृति चौठाण वड़िया रस में कोई

करते हैं और भाव कर्म राग द्वेष मोह आदि जीव के अशुद्ध परिणाम भाव कर्म के कर्ता है जीव चेतना ज्ञान अज्ञान लक्षण वाला है ज्ञान अज्ञान चेतना आदि से सहित है सभी द्रव्य अपना २ कर्ता है, परन्तु पर भाव के कर्ता नहीं है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्याय में कहा है। 'अप्पा कत्ता विकत्ता य' अर्थात् आत्मा को कर्त्ता कहा है। यहां कषाय आत्मा, योग आत्मा भाव कर्म के कर्ता है इस अपेक्षा से कहा है परन्तु कषायादि आत्मा पुद्गल है तथा भाव कर्म के कर्ता रागादि परिणाम है उसके सुख दुःख के वेदन करने करने वाले भी रागादि हैं परन्तु व्यवहार से कर्म का कर्ता जीव है, अजीव नहीं है, यदि अजीव कर्म करे तो फिर घट्ट पट्टादि क्यों नहीं करते हैं ? इसलिए अकेला जीव भी कर्ता नहीं है तथा अकेला पुद्गल भी कर्ता नहीं है। जीव कर्म पुद्गल के संयोग से कर्म करता है और इन सब कर्मों के बंधन का उपाय आश्रव है पुद्गल जीव का अध्यवसाय भी है अतः दोनों से कर्म उत्पन्न होते हैं। जैसे घड़े का बनाने वाला कुम्हार। कुम्हार के अध्यवसाय बिना घड़ा नहीं बनता तथा मिट्टी और चाक के बिना भी घड़ा नहीं बनता इसी तरह अध्यवसाय और पुद्गल के बिना कर्म नहीं होते। दोनों के संयोग से कर्म उत्पन्न होते हैं एवं भूत नय से तो कुम्हार को ही घड़ा

कहा है इसलिए घड़ा का कर्ता घड़ा है ऐसे ही जीव को भी कर्म कहते हैं इसलिए कर्म का कर्त्ता कर्म है पर जीव नहीं।

बंध के चार भेद कहते हैं—(१) प्रकृति वन्ध (२) स्थिति वन्ध (३) अनुभाग वन्ध तथा (४) प्रदेश वन्ध इनका अर्थ जानने के लिए मोदक का दृष्टान्त कहते हैं। जैसे कोई लड्डु वायु का शमन करता है, कोई पित्त का शमन करता है कोई श्लेश्म का शमन करता है कोई धातु की वृद्धि करता है, इसी तरह कोई प्रकृति ज्ञान का आवरण करती है, कोई दर्शन का आवरण करती है, कोई चरित्र का आवरण करती है, कोई सुख देती है, कोई दुख देती है, उसे प्रकृति बन्ध कहते हैं।१

जैसे किसी मोदक (लड्डु) की स्थिति पन्द्रह दिन की किसी की एक मास की तत्पश्चात् विनाश हो जाता है वैसे ही किसी प्रकृति की बीस क्रोड़ा क्रोड़ी सागर की स्थिति किसी की तीस क्रोड़ा क्रोड़ी सागर की स्थिति किसी की ७० क्रोड़ाक्रोड़ सागर की स्थिति होती है इतने समय परमाणु सत्ता में रहे फिर नाश हो जावे उसे स्थिति बन्ध कहते हैं।२

जैसे कोई लड्डु चार गुणी शक्कर के रस में बनते हैं कोई तिगुनी, कोई दुगुनी तो कोई बराबर शक्कर में बनते हैं इसी प्रकार कोई प्रकृति चौठाण बड़िया रस में कोई

तिवण वढिया रस में कोई दुठाण वढिया रस में कोई एक ठाणा वढिया रस में होती है इसीलिए योग के प्रताप से कर्म ग्रहण करते हैं, उसमें कषाय के प्रताप से रस पड़ता है, अनन्तानुबन्धी कषाय में पाप प्रकृति का चौठाणवढिया रस अप्रत्याख्यानी में त्रिठाण, प्रत्याख्यानी में दुठाण, संजल में एकठाण वढिया रस सत्तर प्रकृति का होवे, और पुण्य प्रकृति का एकठाण वढिया रस होवे, इसलिए अनन्तानुबन्धी कषाय में पुण्य प्रकृति का एक ठाणवढिया रस, अप्रत्याख्यानी में दुठाण, प्रत्याख्यानी में भी ठाण, संजल मा चौठाण वढिया रस होता है यहां शुभ प्रकृति का रस इक्षु रस के दृष्टांत से समझे। तथा अशुभ प्रकृति का रस निम्ब के दृष्टान्त से समझे, यह अनुभाग बन्ध है।३

जैसे कोई लड्डु पाव भर का कोई आधा सेर का कोई सेर का, उसी तरह एकैक कर्म प्रकृति के परमाणु अभवी से अनन्त गुणा है किसी के थोड़ा किसी के अधिक यह प्रदेश बन्ध है।४ ये चार प्रकार का बन्ध जीव की साथ लोलि भूत है परन्तु कर्म और जीव की तरह अलग नहीं तिल और तेल की तरह एक रूप है, परन्तु कंचुक की तरह नहीं यह बन्ध तत्त्व तेरहवें गुणस्थान तक है जहां आश्रव है वहां बन्ध है, बन्ध का विकार पुण्य पाप है, ये चार आश्रव की करणी से उत्पन्न होता है, यह बन्ध तत्त्व का परिचय हुआ।

अब पुण्य पाप के बन्ध व उदय के भांगे कहते हैं।
१-पुण्य अकेला बन्धता है तथा अकेला उदय आता है।
२-पुण्य अकेला बन्धता है तथा पाप उदय आता है।
३-पुण्य अकेला बांधे परन्तु उदय नहीं आवे ऐसे ही क्षय होवे। ४-पुण्य अकेला बांधे वक्र मन पाप योग होवे।

१-पाप बांधे तथा पाप उदय में आवे।
२-पाप बांधे तथा पुण्य पाप दोनों उदय में आवे।
३-पाप बांधे तथा वह क्षय हो जावे।
४-पाप बांधे वह पुण्य रूप में परिणामे और पुण्य उदय आवे।

१-दोनों साथ ही बांधे व साथ ही भोगे।
२-दोनों साथ बांधे उसमें से पाप पहिले उदय आवे और पुण्य बाद में उदय आवे।
३-दोनों साथ बांधे उसमें से पुण्य पहिले उदय आवे और पाप बाद में उदय आवे।
४-दोनों साथ बांधे और दोनों ही क्षय हो जावे।

१-एक बांधे तथा दो भोगे।
२-दो बांधे तथा एक भोगे।
३-एक ही बांधे और एक ही भोगे।
४-दो बांधे और दो भोगे।

१–पुण्य बांधे व पुण्य भोगे ।
२–पुण्य बांधे व पाप भोगे ।
३–पाप बांधे व पुण्य भोगे ।
४–पाप बांधे व पाप भोगे ।

१–पुण्य बांधे व पुण्य भोगे ।
२–पुण्य बांधे व पुण्य भोगे ।
३–पुण्य बांधे व पुण्य भोगे ।
४–पुण्य बांधे व पुण्य भोगे ।

१–पाप बांधे व पाप भोगे ।
२–पाप बांधे व पाप भोगे ।
३–पाप बांधे व पाप भोगे ।
४–पाप बांधे व पाप भोगे ।

१–शुभ नाम मिले शुभ ।
२–शुभ नाम मिले अशुभ ।
३–अशुभ नाम मिले शुभ ।
४–अशुभ नाम मिले अशुभ ।

१–पुण्यानुबन्धी पुण्य ।
२–पुण्यानुबन्धी पाप ।
३–पापानुबन्धी पुण्य ।
४–पापानुबन्धी पाप ।

१-दोनों बांधे उसमें से पाप क्षय हो जावे तथा पुण्य उदय आवे।
२-दोनों बांधे उसमें से पुण्य क्षय हो जावे तथा पाप उदय आवे।
३-दोनों बांधे और दोनों ही क्षय हो जावे उदय नहीं आवे।
४-दोनों बांधे तथा दोनों ही उदय में आवे।

१-पुण्य का पुण्य होवे।
२-पुण्य का पाप होवे।
३-पाप का पुण्य होवे।
४-पाप का पाप होवे।

१-पुण्य में पुण्य होवे।
२-पुण्य में पाप होवे।
३-पाप में पुण्य होवे।
४-पाप में पाप होवे।

१-पुण्य में पुण्य की भति।
२-पुण्य में पाप की भति।
३-पाप में पुण्य की भति।
४-पाप में पाप की भति।

१-दोनों बांधे और दोनो परिणमें एक पाप उदय आवे।
२ दोनों बांधे और दोनों परिणमें एक पुण्य उदय आवे।

इस प्रकार बंध तत्व के भांगे बताये ह।

मोक्ष तत्त्व का परिचय कहते हैं। मोक्ष के दो भेद १-द्रव्य मोक्ष तथा २-भाव मोक्ष। १-(मुक्ति) छूटना यह द्रव्य मोक्ष है। २-कर्म छूटने से जीव उजला होवे वह भाव मोक्ष है, मोक्ष जीव का निज गुण है, इसलिए द्रव्य से छूटना यह द्रव्य मोक्ष अशुभ भाव से छूटना यह भाव मोक्ष है अंशतः कर्म क्षय होवे वह निर्जरा है तथा सम्पूर्ण कर्म क्षय होवे वह मोक्ष है। किसी अपेक्षा से संसारी जीव को भी मोक्ष कह सकते हैं। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के तेरहवें अध्याय में कहा है कि 'मव्वं सुचिन्नं सफलं नराणं, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' तथा श्री भवती सूत्र के पहले शतक के चौथे उद्देश्य में 'जेरइय सच्चा जाव वेइता मोक्खो नत्थि, अवेइत्ता तसात्रा झोसइत्ता' उत्तरा-ध्ययन सूत्र में कर्म तोड़ने का उपाय निर्जरा बताया है और कर्म टूटने से आत्मा शुद्ध होती है, वही मोक्ष है। जैसे नाला (नहर) द्वारा पानी निकालकर अन्दर से रत्न निकाले. वैसे तालाव के समान जीव और आश्रव रुपी नाला रोकने से संवर, अरहट के समान निर्जरा, इस साधना से जितना तालाव खाली होता है, उतने ही कर्म से मोक्ष हुआ कहलाता है अर्थात् ज्ञान रुपी रत्न उतना ही समीप हुआ जैसे पानी का उलीचना वैसे निर्जरा। मस्तक का शुद्ध होना मोक्ष है 'तवसा या झोसइता वा इति वचनात्'

खुरसाण के समान निर्जरा खड्ग का निर्मल होना वह मोक्ष है। यदि ऐसा नहीं माने तो केवली के कितने कर्मों का बंध ? तथा कितने का मोक्ष ? यदि चार कर्म का मोक्ष कहें तब भी उद्देश्य मोक्ष ही है। यह प्रकृति की अपेक्षा भी मोक्ष है। एक प्रकृति के उत्तर परमाणु खिसकने से भी होगा, तथा कर्म क्षय करके सिद्ध होते हैं उन्हें भी अपेक्षा से मोक्ष कहते हैं इसलिए श्री नवतत्व प्रकरण ग्रंथ में तो मोक्ष सिद्ध को ही कहा है, तथा श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन में मोक्ष के चार मार्ग कहे हैं, १ ज्ञान, २ दर्शन, ३ चारित्र, ४ तप, यहां ज्ञान के दो भेद-- १ द्रव्य ज्ञान, २ भाव ज्ञान। द्रव्य ज्ञान—जान अजान, उपयोगवंत तथा पत्र लिखा हुआ, पुस्तक तथा जाणग शरीर, भव्य शरीर और मिथ्यात्वी का पढ़ना, गुनना, यह द्रव्य ज्ञान है और समकित दृष्टि का पढ़ना, गुनना, जानपना, यह भाव ज्ञान है। ऐसे ही दर्शन चारित्र तथा तप जाने, ये चार भेद मोक्ष के हैं, उसमें मिथ्यात्वी को देश से व्यवहार नय की अपेक्षा मोक्ष है, परन्तु निश्चय नय की अपेक्षा मोक्ष नहीं समकित दृष्टि को व्यवहार निश्चय दोनों नय की अपेक्षा मोक्ष है। इस प्रकार मोक्ष तत्त्व का परिचय कहा है।

॥ इति पांचवां परिचय द्वार समाप्तम् ॥

❀ छट्ठा प्रश्न द्वार ❀

१ जीव तत्व छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः अर्थात् षट् द्रव्य में जीव द्रव्य है और नौ तत्त्व में भी जीव तत्त्व है तत्त्व की अपेक्षा से जीव संवर निर्जरा एवं मोक्ष। २ अजीव तत्व छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में पांच द्रव्य अजीव है और नौ में अजीव, पुण्य, पाप आश्रव तथा बंध ये पांच तत्व अजीव हैं। ३ पुण्य छः में कौनसा ? नौ में कौनमा ? छः में पुण्य पुद्गल द्रव्य है, और नौ में पुण्य आश्रव बंध अजीव ये चार तत्व पुण्य है। ४ पाप छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में पाप पुद्गल द्रव्य है और नौ में अजीव, पाप; आश्रव तथा बंध ये चार तत्व पाप है। ५ आश्रव छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में आश्रव पुद्गल द्रव्य है और नौ में अजीव, पुण्य पाप आश्रव तथा बंध ये पांच तत्व आश्रव है। ६ मंवर छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में जीव द्रव्य का निज गुण है और नौ में संवर तत्व है, ७ निर्जरा छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में जीव द्रव्य का निज गुण है और नौ में निर्जरा तत्त्व है। ८ बंध छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में पुद्गल द्रव्य का परिणाम और नौ में पुण्य, पाप, आश्रव, बंध तथा अजीव ये पांच तत्त्व

बंध है। ९ मोक्ष छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में जीव द्रव्य का निज गुण और नौ मोक्ष तत्त्व है।

नय की अपेक्षा से कहते हैं। पुण्य, पाप, आश्रव तथा बंध इन चार तत्त्व के भाव जीव के अध्यवसाय है। द्रव्य की अपेक्षा कर्म पुद्गल है। इस अपेक्षा से छः में जीव को पुद्गल कहते हैं और नौ तत्त्व में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव तथा बंध कहते हैं! एक अपेक्षा से शुभ योग को भी निर्जरा कहते हैं एक अपेक्षा संवर भी कहते हैं और मोक्ष भी होता है। ऐसे भाव पुण्य निर्जरा की करणी से होता है, इसलिए निर्जरा भी कहते हैं, परन्तु मुख्य नय में पुण्य पाप आश्रव, बंध ये चार जीव को अशुद्ध करने का स्वभाव है।

जीव को संसार में भ्रमण कराने के हेतु हैं इसलिए इन्हें जीव के निज गुण नहीं कहते हैं ये तो कर्म के गुण हैं अतः जीव तत्त्व में नहीं है तथा संवर, निर्जरा तथा मोक्ष इन तीनों का जीव को शुद्ध करने का स्वभाव है, संसार घटाने का उपाय है, इस अपेक्षा से ये जीव के निज गुण है, अतएव 'एवं भूत' नय की अपेक्षा जीव के गुण को जीव कहते हैं, इस अपेक्षा छः में जीव कहें तो दोष नहीं, यह भी व्यवहार है. निश्चय लक्षण दो हैं, श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय में कहा है कि

❀ छट्ठा प्रश्न द्वार ❀

१ जीव तत्व छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः अर्थात् षट् द्रव्य में जीव द्रव्य है और नौ तत्त्व में भी जीव तत्त्व है तत्त्व की अपेक्षा से जीव संवर निर्जरा एवं मोक्ष। २ अजीव तत्व छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में पांच द्रव्य अजीव है और नौ में अजीव, पुण्य, पाप आश्रव तथा बंध ये पांच तत्व अजीव हैं। ३ पुण्य छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में पुण्य पुद्गल द्रव्य है, और नौ में पुण्य आश्रव बंध अजीव ये चार तत्व पुण्य है। ४ पाप छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में पाप पुद्गल द्रव्य है और नौ में अजीव, पाप; आश्रव तथा बंध ये चार तत्व पाप है। ५ आश्रव छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में आश्रव पुद्गल द्रव्य है और नौ में अजीव, पुण्य पाप आश्रव तथा बंध ये पांच तत्व आश्रव है। ६ संवर छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में जीव द्रव्य का निज गुण है और नौ में संवर तत्व है, ७ निर्जरा छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में जीव द्रव्य का निज गुण है और नौ में निर्जरा तत्त्व है। ८ बंध छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में पुद्गल द्रव्य का परिणाम और नौ में पुण्य, पाप, आश्रव, बंध तथा अजीव ये पांच तत्त्व

बंध है। ९ मोक्ष छः में कौनसा ? नौ में कौनसा ? छः में जीव द्रव्य का निज गुण और नौ मोक्ष तत्त्व है।

नय की अपेक्षा से कहते हैं। पुण्य, पाप, आश्रव तथा बंध इन चार तत्त्व के भाव जीव के अध्यवसाय है। द्रव्य की अपेक्षा कर्म पुद्गल है। इस अपेक्षा से छः में जीव को पुद्गल कहते हैं और नौ तत्त्व में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव तथा बंध कहते हैं! एक अपेक्षा से शुभ योग को भी निर्जरा कहते हैं एक अपेक्षा संवर भी कहते हैं और मोक्ष भी होता है। ऐसे भाव पुण्य निर्जरा की करणी से होता है, इसलिए निर्जरा भी कहते हैं, परन्तु मुख्य नय में पुण्य पाप आश्रव, बंध ये चार जीव को अशुद्ध करने का स्वभाव है।

जीव को संसार में भ्रमण कराने के हेतु हैं इसलिए इन्हें जीव के निज गुण नहीं कहते हैं ये तो कर्म के गुण हैं अतः जीव तत्त्व में नहीं है तथा संवर, निर्जरा तथा मोक्ष इन तीनों का जीव को शुद्ध करने का स्वभाव है, संसार घटाने का उपाय है, इस अपेक्षा से ये जीव के निज गुण है, अतएव 'एवं भूत' नय की अपेक्षा जीव के गुण को जीव कहते हैं, इस अपेक्षा छः में जीव कहें तो दोष नहीं, यह भी व्यवहार है, निश्चय लक्षण दो हैं. श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय में कहा है कि

'चउकारण संजुत्तं नाण दंसण लक्खणो' इति वचनात्, चारित्र तप ये ज्ञान के उपकरण हैं, सिद्ध में चारित्र संवर नहीं है, तथा द्रव्य तो उपचारिक नय में है, परन्तु परमार्थ में नहीं।

अन्य प्रकार से नव तत्व दिखाते हैं, ज्ञान द्रव्य छः में कौनसा? नौ में कौनसा? छः में जीव का निज गुण है इसलिये जीव द्रव्य है। नौ में जीव का गुण तथा मोक्ष है?, चारित्र छः में कौनसा? नौ में कौनसा? छः में जीव के पर्याय, नौ में जीव, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष। १ ज्ञाता कौन है? २ ज्ञेय कौन है? और ३ ज्ञान कौन है? ज्ञाता जीव, ज्ञेय जीवा जीवादि छः द्रव्य, नौ तत्व और ज्ञान जीव का निज गुण है ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी का क्षयोपशम व जान पना १ श्रद्धा करने वाला कौन है? २ श्रद्धा योग्य कौन है? ३ श्रद्धा कौन है? श्रद्धा करने वाला जीव है, श्रद्धा योग्य छः द्रव्य, नौ तत्व है, श्रद्धना यह जीव का निज गुण है दर्शन मोहनी का क्षयोपशम श्रद्धना ऐसे चरित्र का स्वामी जीव है एवं चारित्र–पांच आश्रव का त्याग करना है, यह जीव का गुण पर्याय, चारित्र मोहनी का क्षयोपक्षम है। १ ध्याय कौन है? २ ध्येय कौन है? ३ ध्यान कौन है? ध्याने वाला जीव है, ध्येय जीव पंच परमेष्ठि तथा छः द्रव्य, नौ तत्त्व है।

ध्यान जो ध्याया जावे अर्थात् ज्ञान तथा योग निरोध के भेद। चलने वाला कौन है? चलने वाला जीव तथा पुद्‌गल है। चलने में सहायता दे वह धर्मास्तिकाय है, चलना यह गति परिणाम है, स्थिर रहे वह कौन है? स्थिर रखे वह कौन है? स्थिर रहने वाले जीव एवं पुद्‌गल स्थिर रखने में सहायता अधर्मास्तिकाय देवे। स्थिर रहना यह स्थिति परिणाम है। अवगाहन करने वाला कौन है? अवगाहन करने वाले जीवादि छः द्रव्य हैं। अवगाहना में सहायता देवे वह आकाशास्तिकाय है। नवीनता जीर्णता किसकी है? नवीनता व जीर्णता जीव व पुद्‌गल की है। व्यतीत होने वाला कौन है? व्यतीत होने वाला काल है। नवीनता व जीर्णता का करने वाला भी काल है। भोगे व ग्रहण करे वह कौन है? भोगे व ग्रहण किसका करे? भोगे व ग्रहण करने वाला जीव है, भोगना ग्रहण करना लेना, छोड़ना, पुद्‌गल का होता है। कर्त्ता कौन है? किया जाने वाला कौन है? कर्त्ता जीव है, किये जाने वाले कर्म हैं। उत्पन्न होने वाला कौन है? उपजाने वाला कौन? उत्पन्न होवे वह कर्म, उपजावे वह जीव। ऐसे ही लगाने वाला जीव, लगने वाले कर्म, रोकने वाला जीव, रोकना संवर, जीव का निज गुण। टूटने वाले कर्म, बांधने वाला जीव, बंध करना यह क्रिया, बांधे कर्म,

छुड़ाने वाला जीव, छोड़ना जीव का निज गुण, छोड़े कर्म, को, रोकने वाला जीव। कर्म क्षय करने वाला जीव, टूटने वाले कर्म।

॥ इति छठा प्रश्न द्वार समाप्तम् ॥

❀ ७. आत्मा द्वार ❀

१–जीव तत्त्व आत्मा है दूसरा नहीं। २--अजीव तत्त्व आत्मा नहीं दूसरा है, ३–पुण्य, ४–पाप, ५-.आश्रव, ६ बंध ये चार तत्त्व इसी प्रकार जानें। ७ संवर, ८ निर्जरा ९ मोक्ष ये तीन तत्त्व आत्मा है परन्तु दूसरे नहीं, यह तो मुख्य नय की अपेक्षा से कहा। अब औपचारिक नय में पुण्य, पाप, आश्रव, बंध ये चार तत्त्व आत्मा भी है। श्री भगवती सूत्र के बारहवें शतक के दसवें उद्देश्य में परमाणुओं को भी आत्मा कहा है। इस अपेक्षा से नौ तत्त्व को अपनी अपनी अपेक्षा से आत्मा ही कहते हैं तथा नौ पदार्थ आत्मा के आते हैं तथा नव तत्त्व का ज्ञान भी आत्मा है। वहां जीव द्रव्य आत्मा है। संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चारित्र आत्मा के भेद है, नौ तत्त्व का ज्ञान करना यह ज्ञान आत्मा है, उपयोग आत्मा है, श्रद्धा करना यह दर्शन आत्मा है; क्रिया करने की शक्ति का प्रयोग करना वीर्य आत्मा है। पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध ये कषाय आत्मा एवं योग आत्मा है।

॥ इति आत्मा द्वार समाप्तम् ॥

❀ ८ सावद्य निर्वद्य द्वार ❀

१-जीव सावद्य है परन्तु निर्वद्य नहीं जीव के परिणाम सावद्य एवं निर्वद्य है। २-अजीव सावद्य निर्वद्य नहीं। ३-पुण्य, ४-पाप, ५-आश्रव, ६-बंध ये सावद्य है पर निर्वद्य नहीं। इनकी करणी सावद्य निर्वद्य दोनों ही है। पुण्य की करणी शुद्ध की अपेक्षा निर्वद्य ही है। तथा एक अपेक्षा से पञ्चाग्नि प्रमुख का सहन करनादि पुण्य तथा निर्जरा की करनी सावद्य भी है। ७-संवर, ८-निर्जरा, और ९-मोक्ष ये निर्वद्य है।

॥ इति सावद्य निर्वद्य द्वार समाप्तम् ॥

❀ ९ रूपी अरूपी द्वार ❀

एक अपेक्षा से नौ तत्त्व रूपी है, एक अपेक्षा से नौ तत्त्व अरूपी है। एक अपेक्षा से चार रूपी तथा चार अरूपी है एक मिश्र यह कैसे ? जीव को रूपी किस अपेक्षा से कहा ? जीव स्वयं तो अरूपी है परन्तु काया की अपेक्षा रूपी है, इसीलिये ठाणांग सूत्र के दूसरे ठाणे में दो प्रकार के जीव कहे हैं। १-सिद्ध अरूपी तथा २-संसारी रूपी। तथा प्रत्यक्ष में लोक भी ऐसा ही कहते हैं कि "यह काला जीव जाता है, यह पीला जीव जाता है" इत्यादि कारणों से काया के संयोग से रूपी कहते हैं तथा अरूपी तो

प्रसिद्ध है। शुद्ध निष्कलंक जीव स्वरुप की अपेक्षा से अपना जीव भी दिखाई नहीं देता है। इस कारण से अरूपी है (१) अजीव को अरूपी कैसे कहा? धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति तथा काल ये चार द्रव्य अरूपी है। इस अपेक्षा से अरूपी कहा है। अजीव को रूपी किस अपेक्षा से कहा? पुद्गलास्तिकाय रूपी है इस अपेक्षा से रूपी कहा (२) पुण्य को अरूपी किस न्याय से कहा? अन्न पुण्य, जल पुण्य, इत्यादि देने के परिणाम शुद्ध अध्यवसाय अरूपी है। पुण्य की करणी भाव पुण्य है जो अरूपी है। इस अपेक्षा से पुण्य को अरूपी कहा। पुण्य को रूपी किस अपेक्षा से कहा? पुण्य की बयालीस प्रकृति अनंत पुद्गल से उत्पन्न हुई है। इस अपेक्षा से पुण्य एवं पुण्य के फल को रूपी कहा है (३) पाप को अरूपी किस अपेक्षा से कहा? जीव हिंसा के परिणाम, झूंठ बोलने के परिणाम, कषाय योग इत्यादि अध्यवसाय अरूपी है। पाप की करणी भाव पाप वह अरूपी है। इस अपेक्षा से पाप को अरूपी कहा। पाप की बयासी (८२) प्रकृति अनंत प्रदेशी स्कन्ध है। इस अपेक्षा से पाप व पाप के फल को रूपी कहा। (४) आश्रव को अरूपी किस अपेक्षा से कहा? आश्रव शुभाशुभ अध्यवसाय, छः भाव लेश्या रूप है। भाव लेश्या अरूपी है। श्री ठाणांग सूत्र के दूसरे ठाणे में जीव

क्रिया के दो भेद कहे हैं । १—समकित क्रिया २—मिथ्यात्व क्रिया । यहां समकित क्रिया से संवर तथा मिथ्यात्व क्रिया से आश्रव । ये दोनों क्रिया जीव कहलाती है । श्री आचारांग सूत्र की टीका में योग, उपयोग, लेश्या, संज्ञा, इन्द्रिय, श्वासोश्वास कषाय ये सब जीव के गुण कहे हैं । आश्रव से कर्म उत्पत्ति होती है । आश्रव कर्म का कर्ता है कर्म का कर्ता जीव है इस अपेक्षा से आश्रव को अरूपी कहते हैं, मिथ्यात्व आश्रव को अरूपी किस अपेक्षा से कहा ? मिथ्यात्व से अतत्त्व में तत्त्व की बुद्धि, तत्त्व में अतत्त्व की बुद्धि, ऊंधी श्रद्धा आदि क्षयोपशम भाव है । मिथ्यादृष्टि अरूपी है, इस अपेक्षा से अरूपी कहा है । (१) अव्रती आश्रव को अरूपी किस अपेक्षा से कहा ? अव्रत वह छः काया की हिंसा के परिणाम, खाना, पीना, देना, लेना ये जीव के व्यापार है । इस अपेक्षा से अरूपी कहा है (२) प्रमाद आश्रव अरूपी किस अपेक्षा से है ? प्रमाद मद्य विषय कषाय की प्रवृति है जो जीव का व्यापार है । इस अपेक्षा से प्रमाद अरूपी है (३) कषाय आश्रव अरूपी किस अपेक्षा से है ? कषाय के परिणाम जीव के होते हैं, कषाय आत्मा है इस अपेक्षा से अरूपी है (४) योग आश्रव अरूपी किस अपेक्षा से है ? योग की प्रवृत्ति वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से है और योग परिणाम जीव के

हैं। योग आतमा है। इस अपेक्षा योग अरूपी है। (५) प्राणातिपात आदि पांच में प्रवृति ना करना जीव का व्यापार है जो अरूपी है। पांच इन्द्रियों के विषय का आस्वादन करना, तथा भाव इन्द्रियां अरूपी है, तीन योग का प्रवृर्तना, भंडोपगरण सूई कुसग्ग लेना, देना, रखना ये सब जीव के व्योपार है। इस अपेक्षा से आश्रव अरूपी है।

आश्रव को रुपी किस अपेक्षा से कहा ? आश्रव कर्म का कर्ता है, और कर्म का कर्ता कर्म है, छः द्रव्य लेश्या रूपी है, तथा पच्चीस क्रिया आश्रव है। श्री ठाणांग सूत्र के दूसरे अध्याय में पच्चीस अजीव क्रिया कही है। इस अपेक्षा से आश्रव को रूपी कहा है, मिथ्यात्व आश्रव को रूपी किस अपेक्षा से कहा ? मिथ्यात्व के मिथ्यात्व मोहनी कर्म के अनंत प्रदेशी स्कन्ध है तथा मिथ्यात्व से अशुभ प्रकृति के परमाणु आते हैं इसलिए आते हुए कर्म को भी आश्रव कहते हैं, पहिले उदय भाव में कर्म परमाणु है उन्हें भी मिथ्यात्व कहते हैं, इस अपेक्षा से मिथ्यात्व को रूपी आश्रव कहा है। (१) अव्रत आश्रव रुपी किस अपेक्षा है ? अव्रत अप्रत्याख्यान चौकड़ी के परमाणु रुपी है इसलिये खाना. लेना. देना इत्यादि व्यापार रुपी है, इस अपेक्षा से रुपी है (२) प्रमाद आश्रव को रुपी किस अपेक्षा से कहा ? प्रमाद मद्य, विषय, कषाय, निन्द्रा, विकथा ये

सब कर्म प्रकृति के उदय से है। इस अपेक्षा से रुपी कहा है (३) कषाय आश्रव किस अपेक्षा से रुपी है ? चार कषाय अनंत पुद्गल से उत्पन्न हुए, वर्ण, गन्ध आदि सहित है इस अपेक्षा से रुपी है। (४) योग आश्रव को रुपी किस अपेक्षा से कहा ? मन, वचन के योग चौस्पर्शी और काया का योग आठ स्पर्शी है, इस अपेक्षा से योग आश्रव को रुपी कहा। (५) प्राणातिपात आदि पांचों चौस्पर्शी है, पांच द्रव्य इन्द्रियां आठ स्पर्शी है, दो योग चौस्पर्शी है, एक योग आठ स्पर्शी है, भंडोपगरण तथा सूई कुसग्ग ये प्रत्यक्ष में रुपी दिखते हैं, इस अपेक्षा से बीस आश्रव को रुपी कहा है। संवर को अरुपी किस अपेक्षा से कहा ? संवर समकित व्रत, अप्रमाद, अकषाय, अयोगीपन ये सब जीव के निज गुण होने से अरुपी है, इस अपेक्षा से संवर को अरुपी कहा। संवर को रुपी किस अपेक्षा से कहा ? क्योंकि संवरने से पुद्गल का उपशमन हुआ तथा पुद्गल रूपी है, इस अपेक्षा से संवर को रुपी कहा। निर्जरा को अरुपी किस अपेक्षा से कहा ? कर्मों को निर्जरे अतः आत्मा उज्जवल हुआ जो अरुपी है। इस अपेक्षा से अरुपी कहा ? निर्जरा को रुपी किस अपेक्षा से कहा ? निर्जरे हुए कर्म पुद्गल रुपी है। "सुहुमाणं निज्जरा पोग्गला पन्नता" इति वचनात् इस अपेक्षा से निर्जरा को रुपी कहा।

(७) बंध को अरुपी किस अपेक्षा से कहा ? बंध करने के उपाय अरुपी है तथा निश्चय नय में तो जीव को अजीव बांधने में समर्थ नहीं। जीव जीव के अशुभ भाव से ही बंधता है, वे भाव अरुपी है। इस अपेक्षा से बंध को अरुपी कहा। बंध को रुपी किस अपेक्षा से कहा ? जो कर्म के एक सौ वीस प्रकृति के शुभाशुभ परमाणु बांधे हैं, वे परमाणु रुपी है, इस अपेक्षा से बंध को रुपी कहा। (८) मोक्ष को अरुपी किस अपेक्षा से कहा ? जीव कर्म से मुक्त हुआ, उज्जवल हुआ वह मोक्ष है। उज्जवल होना अरुपी है तथा कर्म से मुक्ति पाकर सिद्ध गति में गया, सिद्ध है, भगवान है, शाश्वत है, उन्हें किसी अपेक्षा से मोक्ष कहा, सिद्ध अरुपी है, इस अपेक्षा से मोक्ष को अरुपी कहा (९)।

औपचारिक नय से तो नौ तत्त्व रुपी भी है, तथा अरुपी भी है, परन्तु मुख्य नय में चार रुपी, चार अरुपी तथा एक मिश्र है, ये किस अपेक्षा से है ? श्री भगवती सूत्र के बारहवें शतक के पांचवें उद्देश्य में रुपी अरुपी के बोल कहे हैं, वहां आठ कर्म अट्ठारह पाप स्थानक, दो योग, कार्मण शरीर, सूक्ष्म पुद्गलों का स्कन्ध इन तीस बोलों में पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध, चार स्पर्श (शीत, उष्ण स्निग्ध, रुक्ष) ये सोलह बोल पावे। १–घनोदधि,

२-घनवाय, ३-तनुवाय, ७-चार शरीर ८ बादर पुद्गलों का स्कन्ध, १४ छः द्रव्य लेश्या, १५ एक काय योग इन पन्द्रह बोलों में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, ये बीस बोल पावे, ये पैंतालीस बोल रुपी के हैं, और अठारह पाप का त्याग, बारह उपयोग, छः भाव लेश्या, चार संज्ञा, चार बुद्धि, चार अवग्रहादि, पांच उट्ठाणादि, तीन दृष्टि, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, जीवास्ति, काल द्रव्य इन ६१ बोलों में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नहीं होते हैं अतः अरुपी है।

पुनः गाथा कहते हैं "कमट्ठ पावट्ठाणा, मणवय जोगाय कम्म देहाय। एए चउफासा पन्नत्तं तणवायं घणो दही ॥१॥ उरालाइ चउदेहा, पुग्गलत्थि काय दव्व लेसाय। तह काय जोग एसा नायव्वा अट्ठफासाय ॥२॥ धम्मा धम्मा गासा, जीवा अद्धा पाव ठाणाए। विरइय, दिट्ठी पंच-ठाणा उवओग, भाव लेसाय ॥३॥ उग्गाह सण्णा बुद्धा, चउ चउ एग सट्ठीअ। एए सव्वे भणिया, अरुविणो तथा नायव्वा ॥४॥ इस अपेक्षा पुण्य पाप बंध ये तीन कर्म हैं, इस कारण से रूपी कहा। पुनः आश्रव के भेद ६, द्रव्य लेश्या ३ योग, ५ शरीर इत्यादि रूपी है; और छः भाव लेश्या, एक मिथ्यादृष्टि, चार संज्ञा इत्यादि अरूपी है, इसलिये दोनों रुपी अरुपी दिखाते हैं, परन्तु

आश्रव जीव को मलीन करता है, निश्चय में हेय पदार्थ है, छोड़ने योग्य है, वह कर्म का कर्ता है, कर्म परिणाम है इसलिए जीव का निज गुण नहीं परगुण है, इसलिये रूपी कहना चाहिये। पुनः अठारह पापों का क्षय कर्ता है, परन्तु आश्रव का तथा अरूपी पदार्थ का कभी क्षय नहीं होता। क्षय तो रूपी का ही होता है। इसलिये आश्रव रूपी ही है, फिर निश्चय नय में तो मोहनी कर्म की प्रकृति के परमाणु बांधे हैं, कर्म को ग्रहण करते हैं, कर्म का कर्ता आश्रव है, फिर अठारह पाप जीव के साथ आते हैं, अठारह पाप का त्याग जीव के साथ नहीं आवे। श्री भगवती सूत्र के तेरहवें शतक के सातवें उद्देश्य में "नौ आया भणे अन्नेमणे रूवीमणे नौ अरूवीमणे' ऐसी भाषा कही। फिर श्री पन्नवणा सूत्र के ग्यारहवें पद में भाषा के द्रव्य चौस्पर्शी है। भाषा मन की वर्गणा श्री भगवती सूत्र के बारहवें शतक के चौथे उद्देश्य में कही, इसलिये निश्चय तो आश्रव भी रूपी है तथा अठारह पाप का त्याग आदि ये संवर है, इसलिये अरूपी है, परतु संवर, निर्जरा, मोक्ष इन तीनों का निश्चय से जीव को शुद्ध करने का स्वभाव है, इसलिये जीव के निज गुण है, इसलिए अरूपी कहा, फिर जीव द्रव्य को तो स्थान स्थान पर अरूपी कहा है तथा अजीव के दस भेद अरूपी है, चार रूपी है, उसमें

शुद्ध नय में जीव, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये चार अरूपी है। पुण्य, पाप, आश्रव तथा बन्ध ये चार रूपी है, तथा अजीव रूपी अरूपी दोनों है।

॥ इति रूपी अरूपी द्वार समाप्तम् ॥

१० ❀ जीवा जीव द्वार ❀

एक अपेक्षा नौ ही तत्त्व जीव, एक अपेक्षा एक तत्त्व जीव तथा आठ तत्त्व अजीव, एक अपेक्षा आठ तत्त्व जीव तथा एक तत्व अजीव, एक अपेक्षा चार तत्व जीव और पांच तत्व अजीव, एक अपेक्षा एक तत्व जीव, एक तत्व अजीव तथा सात तत्व जीव। अजीव के पर्याय कैसे? नव पदार्थ का जानपना तत्व है, जीव को जीव जाने यह जानपना जीव तत्व है, अजीव जाने यह अजीव तत्व, पुण्य को पुण्य जाने तो पुण्य तत्व, पाप को पाप जाने तो पाप तत्व इत्यादि ज्ञान होना तत्व है, पर पुण्य पाप अजीव आदि ये तत्व नहीं है, इस अपेक्षा से नौ पदार्थ का ज्ञान होना तत्व है, ज्ञान जीव का गुण है, इसलिये नौ तत्व जीव है।

एक तत्व जीव तथा आठ तत्व अजीव कैसे? क्योंकि सात तत्वों के द्रव्य पुद्गल है और पुद्गल अजीव है, इस

अपेक्षा से एक तत्व जीव तथा आठ तत्व अजीव है। ए
तत्व अजीव तथा आठ तत्व जीव वह कैसे ? सात तत्व
भाव जीव है क्योंकि सात तत्व जीव के पास में है। श्री
पन्नवणा सूत्र के पांचवें पद में कहा है कि "नेरइया
अणंता पज्जवा पन्नत्ता" यहां ज्ञान अज्ञान वर्ण आदि स
जीव कहे हैं, श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक के साव
उद्देश्य में जीव का भोग जीव अजीव दोनों बताये हैं
अजीव के भोग नहीं, इस अपेक्षा से कर्म और काया को
जीव कहा है। श्री भगवती सूत्र के बारहवें शतक के पहिले
उद्देश्य में आठ आत्मा का वर्णन है। द्रव्य आत्मा तो
जीव है। इसलिए सात तत्व के भाव को जीव कहा है।
श्री भगवती सूत्र के तेरहवें शतक के सावर्वे उद्देश्य में काया
को आत्मा बताने के साथ साथ संचित तथा जीव भी कहा
है। श्री भगवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के दूसरे उद्देश्य
में जीव के चौदह भेद का वर्णन है। जो काया की अपेक्षा
से कहा है। सातवें व्रत में "सच्चित्ताहारे" सचित तो
काया होती है यदि अजीव कहते हो तो सचित कोई नहीं
रहा। श्री समवायांग सूत्र में तथा ठाणांग सूत्र में दो राशि
का कथन है, तो क्या यहां तीसरी मिश्र राशि है ? श्री
दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्याय में 'देह दुक्खम् महा
फलम्' कहा है अतः अजीव को दुख नहीं होवे और दुख

देने से होवे भी क्या ? श्री उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्याय में 'वरं मे अप्पादंतो' कहा है तब अजीव का दमन करने से क्या होवे ? श्री भगवती सूत्र के सत्रहवें शतक के दूसरे उद्देश्य में अट्ठारह पाप, चार बुद्धि, चार अवग्रह, पांच उट्ठाणादि शक्ति, चार गति, आठ कर्म, छः लेश्या, तीन दृष्टि, चार दर्शन, पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार संज्ञा, पांच शरीर, तीन योग, दो उपयोग में जीव एवं जीवात्मा माना है। इस अपेक्षा आठ तत्त्व जीव है। काया और कर्म को जीव में कहा है तब पुण्य, पाप, आश्रव और बंध को जीव कहने में क्या दोष ? श्री ठाणांग सूत्र के दूसरे ठाणे में काल को जीव अजीव दोनों कहा है क्योंकि काल की दोनों में प्रवृत्ति है। छाया, धूप, वैमानादि को भी जीव का परिग्रह होने के कारण जीव कहा है, तब कर्म एवं काया इन दो पदार्थ के बिना तो कोई भी स्थान नहीं मिलता। उनके बिना जीव नहीं, जीव के बिना ये नहीं इसलिए सात तत्त्व जीव में मिलाने पर एक तत्त्व अजीव तथा आठ तत्त्व जीव होते हैं। परन्तु मुख्य नय में चार तत्त्व जीव तथा पांच तत्त्व अजीव कैसे ? पुण्य, पाप, आश्रव तथा बंध ये जीव के परगुण है। इसलिये अजीव कहलाते हैं। संवर, निर्जरा, तथा मोक्ष ये तीन जीव के निज गुण है इसलिए जीव कहलाते हैं। श्री अनुयोग द्वार

सूत्र में कहा है कि 'जीव गुण प्पमाणे तिविहे पन्नते तंजहा १-नाण गुण प्पमाणे, २-दंसण गुण प्पमाणे ३-चरित गुण प्पमाणे तथा श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठावीसवें अध्याय की १० वीं ११ वीं गाथा में भी कहा है "जीवो उवओगलक्खणो। णाणेणं दंसणेणं च, सुहेणय दुहेणय ।१। नाणंच दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा। वीरियं उवओगोय एयं जीवस्स लक्खणं ॥२॥ फिर श्री आचारांग सूत्र के पांचवें अध्याय के ५ वें उद्देशक में भी कहा है "जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया" जो ज्ञान है वह जीव है तथा जो जीव है वह ज्ञान है, यहां ज्ञानादि गुण जीव से अलग नहीं। श्री भगवती सूत्र के पहिले शतक के ९ वें उद्देशक में काला सवेशीय पुत्र को स्थविरों ने फरमाया कि 'आया णे अज्जो! सामाइए आयाणे अज्जो सामाइयस्सअट्ठे' संजम चरित्त विउस्सग्ग' सबको आत्मा कहा है यह निज गुण [illegible]ी अपेक्षा से है। परन्तु आश्रव पुण्य पाप को आत्मा [illegible] कहा। जैसे गुड़ व मिठास एक है वैसे ही जीव और चेतन एक है. अलग नहीं है, इस कारण से जीव के गुण को जीव कहा है. इस अपेक्षा जीव संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये चार तत्त्व जीव है। अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और बंध ये पांच तत्त्व अजीव है। शुद्ध की अपेक्षा तो १- जीव, २-अजीव। जीव, अजीव का गुण पर्याय है। इस अपेक्षा

किसी स्थान पर अटकता नहीं है। इसका परिचय तो रूपी अरूपी द्वार में दिया है। सात तत्त्व जीव स्थापन करना; फिर तीन तत्त्व जीव स्थापन करना, चार तत्त्व अजीव स्थापन करना, अथवा एक तत्व जीव एक तत्व अजीव। तीन तत्व जीव के निज गुण है चार तत्व जीव के परगुण है, तथा एक तत्व जीव, एक तत्व अजीव, तीन तत्व जीव के पर्याय और चार तत्व अजीव के पर्याय है।

मुख्य नय से परिचय करते हैं। जीव को जीव कहते हैं, संवर कहते हैं, निर्जरा कहते हैं, मोक्ष कहते हैं। अजीव को अजीव कहते हैं, पुण्य कहते हैं, पाप कहते हैं, आश्रव कहते हैं, बंध कहने हैं। पुण्य को अजीव, पुण्य, आश्रव और बंध ये चार कहते हैं। पाप को अजीव, पाप, आश्रव व बंध ये चार कहते हैं। आश्रव को अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव व बंध ये पांच कहते हैं। संवर को जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये चार कहते हैं। निर्जरा को जीव, संवर निर्जरा और मोक्ष ये चार कहते हैं। बंध को अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और बंध ये पांच कहते हैं। मोक्ष को जीव संवर, निर्जरा और मोक्ष ये चार कहते हैं। जीव को जीव किस अपेक्षा से कहते हैं? इत्यादि सब परिचय करवा देवें। यह मुख्य अपेक्षा से कहा है तथा दूसरी अपेक्षा से तो पहिले की तरह सब विचार कर लेवें।

卐 इति जीवा जीव द्वार समाप्तम् 卐

११– ❀ शुभा शुभ द्वार ❀

१– जीव तत्त्व स्वयं निष्कलंक है अतः शुभ है, और कर्म की संगति से अशुद्ध होता है।

२– अजीव तत्त्व में धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार शुभ है, पुद्गल कोई शुभ तथा कोई अशुभ है, मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय ये चार एकांत अशुभ है। योग शुभा शुभ है।

३– आश्रव तत्त्व शुभा शुभ है।

४– पुण्य तत्त्व शुभ है।

५– पाप तत्त्व अशुभ है।

६– संवर तत्त्व शुभ है।

७– निर्जरा तत्त्व शुभ है।

८– बंध तत्व शुभा शुभ है। बयालिस पुण्य प्रकृति का शुभ बंध है, बय्यासी पाप प्रकृति का अशुभ बंध है।

९– मोक्ष तत्व शुभ है।

संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्व शुभा शुभ कर्म की अपेक्षा भी स्वयं शुभ है।

❀ इति शुभा शुभ द्वार समाप्तम् ❀

१२ ❀ धर्म कर्म द्वार ❀

१- जीव तत्त्व धर्म कर्म कुछ भी नहीं है। धर्म जीव का गुण है, इसलिये जीव को धर्म कहते हैं। अशुभ उपयोग की अपेक्षा कर्म भी कहते हैं।

२- अजीव तत्त्व में धर्म, आकाश, काल ये चार धर्म कर्म कुछ भी नहीं है। पुद्‌गल परमाणुओं से असंख्य प्रदेशी पर्यन्त धर्म कर्म कुछ भी नहीं है। अनन्त प्रदेशी में धर्म कर्म कुछ भी नहीं है। कई एक कर्म पर धर्म नहीं है।

३- पुण्य तत्त्व कर्म है, धर्म नहीं। तथा पुण्य की करणी को धर्म भी कहते हैं।

४- पाप तत्त्व कर्म है, धर्म नहीं।

५- आश्रव तत्त्व कर्म है धर्म नहीं। तथा शुभ योग को किसी अपेक्षा से धर्म भी कहते हैं श्री उत्तराध्ययन सूत्र के चौतीसवें अध्याय में लेश्या का वर्णन है, यहां लेश्या आश्रव है पर निर्जरा होती है इसलिये धर्म कहा है।

६- संवर तत्त्व धर्म नहीं है कर्मों का संवर करता है अर्थात् रोकता है इस अपेक्षा से संवरना (रोकना) कर्म कहलाता है।

७– निर्जरा तत्त्व धर्म है पर कर्म नहीं ।

८– बंध तत्त्व कर्म है पर धर्म नहीं ।

९– मोक्ष तत्त्व धर्म है पर कर्म नहीं । पुण्य, पाप; आश्रव और बंध ये चार तत्त्व कर्म है । संवर, निर्जरा व मोक्ष ये तीन तत्व धर्म है ।

॥ इति धर्म कर्म द्वार समाप्तम् ॥

---

१३. ❀ आज्ञा अनाज्ञा द्वार ❀

१– जीव तत्व जीव पन चेतना ज्ञान रूप आज्ञा में है और कितने ही जीव आज्ञा में है कितने ही आज्ञा में नहीं है ।

२– अजीव तत्व का अजीव पन आज्ञा में है, बाहर नहीं है और कितने ही अजीव रखने की आज्ञा है ।

३– पुण्य तत्व- पुण्य की करणी आज्ञा में है । पुण्य का परमाणु आज्ञा में है परन्तु बाहर नहीं ।

४– पाप तत्व–पाप की करणी आज्ञा बाहर है, पाप के परमाणु आज्ञा में है पर बाहर नहीं ।

५– आश्रव तत्व–आश्रव की करणी आज्ञा में भी है, और आज्ञा बाहर भी है, इनमें मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय,

प्रमाद ये चार आज्ञा में नहीं है, शुभ योग आज्ञा में है, अशुभ योग आज्ञा बाहर है और आश्रव के बन्धे हुए पुद्गल आज्ञा में है, बाहर नहीं।

६– संवर तत्व आज्ञा में है।

७– निर्जरा तत्व आज्ञा में है।

८– बन्ध तत्व–बन्ध की करणी आज्ञा में भी है, और आज्ञा के बाहर भी है, बन्ध के परमाणु आज्ञा में है, बाहर नहीं है।

९– मोक्ष तत्व आज्ञा में है, किन्तु संवरे हुए, निर्जरे हुए, छोड़े हुए पुद्गल आज्ञा में नहीं है।

॥ इति आज्ञा अनाज्ञा द्वार समाप्तम् ॥

१४. ❀ नित्यानित्य द्वार ❀

जीव अजीव ये दोनों तत्व नित्य है। अवशेष सात तत्व अनित्य है, तथा जीव द्रव्य नित्य है, किन्तु गुण पर्याय अनित्य है, जैसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, सुभग, दुभग, दरिद्री, धनी, निर्धनी, ज्ञानी, अज्ञानी, एकेन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, त्रस, स्थावर आदि संसारी सिद्ध आदि अनेक अवस्था धारण करते हैं, परन्तु जीव का अजीव नहीं होता। सोने की मुद्रिका का दृष्टान्त–जैसे मुद्रिका को मिटाकर

कन्दोरा घड़ाया उसमें सोने के आकार का विनाश हुआ परन्तु स्वर्णपन का विनाश नहीं हुआ। ऐसे ही जीव की अवस्था बदलती है पर जीव पन का विनाश नहीं होता। यहां कई एक ऐसा कहते हैं कि जो अनित्य (अशाश्वत) वस्तु जीव की पर्याय है वह जीव नहीं है, क्योंकि भगवती सूत्र के दूसरे शतक के दसवें उद्देश्य में धर्मास्ति कायादि पञ्चास्ति काय नित्य शाश्वत बतायी है इसलिये शाश्वता जीव है अशाश्वता जीव नहीं है। किन्तु ऐसा कहने वाले एकान्त पक्ष के मानने वाले हैं। वे अनेकान्त का उत्थापन करते हैं इसलिए मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं क्योंकि श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छतीसवें अध्याय की ८वीं गाथा में कहा है कि धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन अनादि अपर्यवसीत शाश्वत, नित्य है तथा जीव, पुद्गल व काल ये तीनों द्रव्य शाश्वत है तथा इनकी पर्याय अशाश्वत है। इस विषय में श्री भगवती सूत्र के नौमें शतक के तेतीसवें उद्देश्य में श्री भगवन्त ने जमाली से फरमाया कि 'सासए लोए जमाली असासए लोए जमाली, सासए जीवे जमाली, असासए जीवे जमाली' ये चार बोल बताये हैं, इस दृष्टि से जीव द्रव्य नित्य है पर्याय अनित्य है यहां पर्याय की अपेक्षा से जीव को अशाश्वत बताया है। इस अपेक्षा से जो जिसका द्रव्य, गुण पर्याय है वे उसी के कहलाते हैं, इस अपेक्षा से जीव को नित्य अनित्य

दोनों कहा है। ऐसे ही अजीव तत्त्व के चार द्रव्य नित्य है, पुद्‌गल का द्रव्य नित्य अनित्य दोनों हैं। २–पुण्य तत्व एक जीव की अपेक्षा एक है, वन्ध की अपेक्षा अनित्य है, समुच्चय नित्य है। ३–पाप, आश्रव, बंध ये तीन तत्व पुण्य के समान है सब जीव की अपेक्षा नित्य है, पुण्य के परमाणु आदि नित्य है और न्यून प्रदेश की अपेक्षा दूसरे होते हैं, अर्थात् अनित्य है। ५–संवर तत्त्व मिथ्यात्वी के नहीं गिने तो अनित्य है, सिद्धों के नहीं गिने तो अनित्य है गिने तो नित्य है। ६–निर्जरा तत्त्व एक जीव की करणी की अपेक्षा अनित्य है समुच्चय रूप से समय समय पर निर्जरा होती है, इस अपेक्षा से अनित्य है सब जीवों की अपेक्षा नित्य है। ७– बंध एवं मोक्ष तत्व भी ऐसे ही हैं। नित्य अनित्य के भांगे कहते हैं:—

१– अणाइए अपज्जवसिए–जिसकी आदि भी नहीं है अंत भी नहीं है।

२– अणाइए सपज्जवसिए–जिसकी आदि नहीं पर अंत है।

३– साइए अपज्जवसिए–जिसकी आदि है पर अंत नहीं।

४– साइए सपज्जवसिए–जिसकी आदि भी है अंत भी है।

ये चार भांगे नौ तत्त्व पर कहते हैं। जीव तत्त्व में चार भांगे—

१- अणाइए अपज्जवसिए--यह भांगा सब जीवों में जीव पने की अपेक्षा मिलता है तथा संसार की अपेक्षा अभवी में मिलता है।

२- अणाइए सपज्जवसिए--यह संसारी जीवों में मिलता है।

३- साइए अपज्जवसिए--यह सिद्धों में मिलता है।

४- साइए सपज्जवसिए--यह चार गति में मिलता है।

अजीव तत्त्व में चार भांगे---

१-- अणाइए अपज्जवसिए-यह भांगा धर्माधर्म, आकाश में मिलता है और काल व पुद्गल में विद्यमान की अपेक्षा काल में तथा पुद्गल पने की अपेक्षा पुद्गल में भी मिलता है।

२-- अणाइए सपज्जवसिए--यह भांगा काल द्रव्य की अपेक्षा अतीत काल में मिलता है।

३-- साइए अपज्जवसिए -यह भांगा काल द्रव्य की अपेक्षा अनागत काल में मिलता है।

४-- साइए सपज्जवसिए--यह भांगा पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा परमाणु दो प्रदेश मे लेकर अनंत प्रदेश तथा घट पटादि अवस्था की अपेक्षा पुद्गल में तथा काल द्रव्य की अपेक्षा घड़ी, समय, आवलिका आदि की अपेक्षा काल में मिलता है।

पुण्य तत्त्व में तीन भांगे—

१- अणाइए सपज्जवसिए--यह भांगा संसार में सब जीवों की अपेक्षा मिलता है क्योंकि पुण्य को बांधने वाले, भोगने वाले जीव शाश्वत (नित्य) है तथा पुण्य का स्कन्ध भी शाश्वत है ।

२- अणाइए सपज्जवसिए--यह भांगा भवी जीव में पुण्य के बन्ध व उदय की अपेक्षा है ।

३- साइए अपज्जवसिए--यह भांगा शून्य है अर्थात् पुण्य तत्त्व में नहीं मिलता है ।

४- साइए सपज्जवसिए—यह भांगा एक जीव के एक बंध की अपेक्षा तथा एक स्कन्ध के पुण्यपने रहने की अपेक्षा है ।

पाप तत्त्व एवं आश्रव तत्त्व में तीन भांगे पुण्य तत्त्व के समान है ।

संवर तत्त्व में चार भांगे मिलते हैं—

१- अणाइए अपज्जवसिए—यह भांगा सब जीव की अपेक्षा संवर क्रिया करने वाले शाश्वत है ।

२- अणाइए सपज्जवसिए—यह भांगा द्रव्य संवर संसारी जीव में मिलता है इस अपेक्षा किसी २ में प्रतीत होता है ।

३– साइए अपज्जवसिए–यह भांगा समकित आदि की अपेक्षा, समकित संवर इत्यादि निश्चय संवर सिद्धों में भी है। व्यवहार संवर चारित्र पालने की अपेक्षा सिद्ध में नहीं है क्योंकि चारित्रावरणी कर्म का क्षय हो गया है। अतः अकषायी, अवेदी, अलेशी अयोगी, इत्यादि गुण सिद्धों में हैं इस अपेक्षा से।

४– साइए सपज्जवसिए–यह भांगा साधुपन, श्रावकपन, समकित व्रत पच्चक्खाण दया आदि शुभ परिणाम की अपेक्षा।

निर्जरा तत्त्व में तीन भांगे मिलते हैं—

१– अणाइए अपज्जवसिए–यह भांगा अभव्यादिक के समय समय पर अकाय निर्जरा होती है इसलिये अभवि में मिलता है।

२– अणाइय सपज्जवसिए–यह भांगा भवि के अकाम निर्जरा होती है इस अपेक्षा भवि में मिलता है।

३– साइए अपज्जवसिए–यह भांगा शून्य है।

४.– साइए सपज्जवसिए–यह भांगा सम्यक दृष्टि की सकाम निर्जरा।

बन्ध तत्त्व के तीन भांगे—

१– अणाइए अपज्जवसिए–यह भांगा अनेक जीवों की अपेक्षा तथा अभव्यादि की अपेक्षा।

२- अणाइए सपज्जवसिए-यह भांगा भवि जीव के कर्म क्षय करने की अपेक्षा मिलता है।

३- साइए अपज्जवसिए—यह भांगा शून्य है।

४- साइए सपज्जवसिए—यह भांगा सब संसारियों में बंध की अपेक्षा मिलता है।

मोक्ष तत्व में चार भांगे —

१- अणाइए अपज्जवसिए—यह भांगा बहुत जीवों के समय समय पर कर्म टूटते हैं इस अपेक्षा तथा एक एक अभव्यादि की अपेक्षा तथा सर्व सिद्धों की अपेक्षा।

२- अणाइए सपज्जवसिए—यह भांगा भवी में।

३- साइए अपज्जवसिए—ये सिद्धपन की अपेक्षा।

४- साइए सपज्जवसिए—यह भांगा एक एक प्रकृति की अपेक्षा।

पुण्य, पाप, आश्रव, निर्जरा तथा बंध इन पांचों तत्वों में तीन भांगे मिलते हैं।

॥ इति नित्यानित्य द्वार समाप्तम् ॥

१५- ❁ गुणस्थान द्वार ❁

जीव तत्व में चौदह गुणस्थान तथा सिद्धपन होता है। अजीव तत्व शरीर की अपेक्षा चौदह गुणस्थान तक है। पुण्य तत्व पुण्य बंध की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान तक है भोगने की अपेक्षा चवदहवें गुणस्थान तक है। पाप

तत्व पांचवें गुणस्थान तक है तथा छट्ठे से नवमें तक भी वंधता है। उपरांत वंधी के न्याय से जानना तथा दसवें गु० में भी चौदह पाप प्रकृति बांधते हैं उपरांत पाप का बंध नहीं है पाप का वेद चौदहवें गुणस्थान तक है। आश्रव तत्त्व तेरहवें गुणस्थान तक है उसमें मिथ्यात्व पहिले तथा तीसरे गुणस्थान में और अव्रत चौथे गुणस्थान तक तथा एक अपेक्षा से पांचवें तक, प्रमाद छट्ठे गुणस्थान तक है। कषाय दसवें गुणस्थान तक है। अशुभ योग तेरहवें गुणस्थान तक है। प्राणातिपातादि पांच आश्रव चौथे गुणस्थान तक है। सर्वथा पाचवें गुणस्थान में, देश से छट्ठे गुणस्थान से आगे नहीं है, फिर भी छट्ठे गुणस्थान में उपयोग विना लगता है। तथा प्रमादवश भी लगता है सातवें से दसवें तक विना उपयोग से किसी समय आश्रव होने की भजना है, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें व चौदहवें में आश्रव नहीं करे और होवे तो द्रव्य भाव है, उसका फल नहीं लगता है। तथा एक अपेक्षा से छट्ठे गुणस्थान में नदी प्रमुख उतरते जो हिंसा होवे उसे द्रव्य हिंसा कहते हैं श्री अनुयोग द्वार सूत्र में 'नव उतेय भावओ' इति वचनात् क्योंकि हिंसा करने में उपयोग नहीं है हिंसा टालने का इच्छुक है अतः महा पाप टाल कर स्वल्प लगाता है इसलिए भाव हिंसा नहीं कहलाती है, ऐसे ही अन्य स्थानों पर भी

साधु को काम करते हुए जो हिंसा हो वह द्रव्य हिंसा है,
यह कैसे ? श्री ठाणांग सूत्र के दशवें ठाणे में दस शस्त्र
बताये हैं, उनमें नौ तो द्रव्य शस्त्र बताये हैं तथा दशवां
भाव शस्त्र बताया है, यहां अव्रत को शस्त्र बताया है।
अव्रत साधु को नहीं लगता है, इसलिये द्रव्य हिंसा है,
भाव हिंसा नहीं है। फिर एक अपेक्षा से जानता हुआ नदी
उतरने प्रमुख हिंसा करता है, उसे भाव हिंसा कहते हैं, तथा
यत्ना पूर्वक चलते हुए ईर्या समिति से अज्ञानपन में कीड़ी
आदि पैर नीचे आजाय उसे भगवान ने श्री भगवती
सूत्र में द्रव्य हिंसा कहा है क्योंकि बिना उपयोग से मरते
हैं, साधु के मारने के भाव नहीं है अतएव द्रव्य हिंसा कहते
हैं, तथा एक अपेक्षा सरागी जीव दसवें गुणस्थान तक सूत्र
से विपरीत चलता है क्योंकि वहां तक कषाय का उदय है
छट्ठे, सातवें, आठवें में समय समय पर कर्म बांधते हैं।
इसलिये भाव हिंसा की सम्भावना दिखती है, उपरांत नहीं।
क्योंकि श्री भगवती सूत्र के अठारहवें शतक में कहा है कि
भावित आत्मा अणगार को इर्या से चलते हुए पैर नीचे
मुर्गी का बच्चा मर जावे तो इरियावही क्रिया लगती है
परन्तु पाप नहीं बंधता है, इस दृष्टि से दसवें गुणस्थान तक
भाव हिंसा की सम्भावना दिखती है, तथा कोई कहते हैं
कि समकित दृष्टि को भाव हिंसा नहीं होवे यह बात मिलना

संभव नहीं है, क्योंकि चौथे पांचवे गुणस्थान में अनेक संग्राम, आरम्भ, विषय, कषाय का सेवन करते हैं, वहां नियमा पाप बंधता है। इसलिये उपर्युक्त कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इसलिये प्राणातिपातादि आश्रव पांचवां गुणस्थान तक नियमा है। दसवें गुणस्थान तक प्रतिभाषित होता है। फिर पंचेन्द्रिय की वेदना तो विशेष रूप से पांचवें गुणस्थान तक है तथा अशुभ योग छट्ठे गुणस्थान तक है। शुभ योग तेरहवें गुणस्थान तक है। भंडोपगरण सुइकुमग्ग की अयत्ना पांचवें तक तथा छट्ठे तक तथा दसवें तक लेवें। आश्रव का छोड़ना तेरहवें तक है। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान तक आश्रव है। चौदहवें में नहीं है, कर्म आश्रव रूप आश्रव नहीं, पहिले के ग्रहण किये कर्म चौदहवें गुणस्थान के पहिले समय में लगते हैं। इसीलिये चौदहवें गुणस्थान के पहिले समय में शुक्ल लेश्या मिलती है।

यहां कई एक स्वयं अज्ञात होने पर भी दुराग्रह से ग्रसित होकर ऐसा कहते हैं कि—चौदहवां गुणस्थान अलेशी है, तब लेश्या कहां से पावे? लेश्या तो योग के परिणाम है, योग बिना लेश्या नहीं होवे, और चौदहवां गुणस्थान अयोगी है अतः वहां लेश्या कहां से पावे? उसका उत्तर है कि—चौदहवें गुणस्थान का नाम अलेशी कहां बताया है? अयोगी बताया है, यदि अलेशी कहे तो बाधा नहीं, क्योंकि

निषेध अल्पार्थ का द्योतक है, जैसे पतले पेट की उणोदरी के न्याय, तथा छट्ठा अचेलका परिषह। वैसे अल्प के लिए विवक्षा नहीं की परन्तु लेश्या है। जैसे झालर प्रमुख वादित्र के बजाये बिना शब्द नहीं होते, परन्तु झालर के डण्डा लगने के पश्चात् रणकार ध्वनि रहती है। वैसे ही योग रूप डण्डा लग तो गया परन्तु उसका रणकार रह गया, इसलिये मानना। श्री भगवती सूत्र के छब्बीसवें शतक के पहले उद्देश्य में वेदनी कर्म के संयोगी में दो भांगे बनाये हैं। सलेशी में तीन बताये हैं, वहां चौथा भांगा न बंधा न बंधता है और न बंधेगा। यह भांगा चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में मिलता है। यहां योग में तथा लेश्या में अन्तर बताया है। दूसरे सब सूत्रों में तो सयोगी तथा सलेशी को एक समान कहा है. किसी भी स्थान में अन्तर नहीं बताया है, एक यहां अन्तर पड़ा है। इसलिये अल्प होने से लेश्या नहीं मानी तथा बंधी हुई की अपेक्षा चौदहवें गुणस्थान के पहिले समय में लेश्या रूप आश्रव है। कर्म ग्रहण करने रूप नहीं। शरीर चौदहवें गुणस्थान तक है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्याय में शरीर पच्चक्खयी सिद्ध गुण कहा है, इस अपेक्षा से ग्रंथ में चौदहवें गुणस्थान में शरीर नहीं माना है, अयोगीपन होने से शरीर का व्यापार नहीं है।

संभव नहीं है. क्योंकि चौथे पांचवे गुणस्थान में अनेक संग्राम, आरम्भ, विषय, कषाय का सेवन करते हैं, वहां नियमा पाप बंधता है। इसलिये उपर्युक्त कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इसलिये प्राणातिपातादि आश्रव पांचवां गुणस्थान तक नियमा है। दसवें गुणस्थान तक प्रतिभाषित होता है। फिर पंचेन्द्रिय की वेदना तो विशेष रूप से पांचवें गुणस्थान तक है तथा अशुभ योग छट्ठे गुणस्थान तक है। शुभ योग तेरहवें गुणस्थान तक है। भंडोपगरण सुइकुमग्ग की अयत्ना पांचवें तक तथा छट्ठे तक तथा दसवें तक लेवें। आश्रव का छोड़ना तेरहवें तक है। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान तक आश्रव है। चौदहवें में नहीं है. कर्म आश्रव रूप आश्रव नहीं, पहिले के ग्रहण किये कर्म चौदहवें गुणस्थान के पहिले समय में लगते हैं। इसीलिये चौदहवें गुणस्थान के पहिले समय में शुक्ल लेश्या मिलती है।

यहां कई एक स्वयं अज्ञात होने पर भी दुराग्रह से ग्रसित होकर ऐसा कहते हैं कि—चौदहवां गुणस्थान अलेशी है, तब लेश्या कहां से पावे? लेश्या तो योग के परिणाम है, योग बिना लेश्या नहीं होवे, और चौदहवां गुणस्थान अयोगी है अतः वहा लेश्या कहां से पावे? उसका उत्तर है कि- चौदहवें गुणस्थान का नाम अलेशी कहां बताया है? अयोगी बताया है, यदि अलेशी कहे तो बाधा नहीं, क्योंकि

निषेध अल्पार्थ का द्योतक है, जैसे पतले पेट की उणोदरी के न्याय, तथा छट्ठा अचेलका परिषह। वैसे अल्प के लिए विवक्षा नहीं की परन्तु लेश्या है। जैसे झालर प्रमुख वादित्र के बजाये विना शब्द नहीं होते, परन्तु झालर के डण्डा लगने के पश्चात् रणकार ध्वनि रहती है। वैसे ही योग रूप डण्डा लग तो गया परन्तु उसका रणकार रह गया, इसलिये मानना। श्री भगवती सूत्र के छब्बीसवें शतक के पहले उद्देश्य में वेदनी कर्म के संयोगी में दो भांगे बताये हैं। सलेशी में तीन बताये हैं, वहां चौथा भांगा न बंधा न बंधता है और न बंधेगा। यह भांगा चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में मिलता है। यहां योग में तथा लेश्या में अन्तर बताया है। दूसरे सब सूत्रों में तो सयोगी तथा सलेशी को एक समान कहा है, किसी भी स्थान में अन्तर नहीं बताया है, एक यहां अन्तर पड़ा है। इसलिये अल्प होने से लेश्या नहीं मानी तथा बंधी हुई की अपेक्षा चौदहवें गुणस्थान के पहिले समय में लेश्या रूप आश्रव है। कर्म ग्रहण करने रूप नहीं। शरीर चौदहवें गुणस्थान तक है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्याय में शरीर पच्चख्ययी सिद्ध गुण कहा है, इस अपेक्षा से ग्रंथ में चौदहवें गुणस्थान में शरीर नहीं माना है, अयोगीपन होने से शरीर का व्यापार नहीं है।

संवर द्रव्य की अपेक्षा तो पहिले गुणस्थान में भी होता है और समकित विना निश्चय पांच में से संवर सम्यकदृष्टि को होते हैं। तेरहवें गुणस्थान तक तो देश संवर है और चौदहवें में सर्व संवर है। इसलिये चौदहवें का नाम शैल कहते, पर्वत के समान अडोल है, सर्व संवर का ईश्वर है। इस कारण पूर्ण संवर है, सिद्धों में संवर नहीं है, क्योंकि श्री भगवती सूत्र के पहिले शतक के दूसरे उद्देश्य में 'इह भविए विनाणे परभविए वि तदुभय भविए' कहा है, चारित्र संयम और तप इसी भव के बताये हैं इस अपेक्षा से तथा ज्ञान को भी अपज्जवसिए कहा है, चारित्र की स्थिति क्रोड़ पूर्व की है उसका पर्यव भी नहीं बताया है, श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पहले उद्देश्य में खंधक के अधिकार में तथा चारित्र आत्मा की अपेक्षा श्री भगवती सूत्र के बारहवें शतक के दसवें उद्देश्य में ज्ञान आत्मा के स्वामी अनन्तगुणा बताये हैं। इसलिये व्यवहार संवर क्रिया रूप में कोई नहीं है किन्तु निश्चय संवर समकित आदि पांच है। निवृत्ति भाव सिद्धों में सभी होते हैं। प्रवृत्ति भाव एक भी नहीं होता है। यद्यपि सिद्धों में समपन है तथापि सामायिक चारित्र नहीं है, क्योंकि चारित्र का कार्य कर्मों को रोकने का है अतः कर्म बिना किसको रोके? चारित्र के गुणों को तो रोकते नहीं है,

जिस कारण से समकित कहें पर समकित संवर नहीं कह-लाता है, कर्म सकषाय के अभाव की अपेक्षा से माने हैं, पर निर्जरा तो चौदहवें गुणस्थान तक है। सिद्धों में निर्जरा नहीं है, इसलिये कर्म नहीं है। कर्म विना किसकी निर्जरा करें ? फिर श्री भगवती सूत्र के अट्ठारहवें शतक के तीसरे उद्देश्य में तथा पन्नवणा सूत्र के पन्द्रहवें पद में "चरिमा निज्जरा पोग्गला चरिमे कम्मं निज्जरे" इति वचनात् ! मनुष्य भव में (मानस) चरम निर्जरा है। पश्चात् सिद्धों में निर्जरा नहीं हैं, पर निर्जरा का फल है। कर्म क्षय रूप बंध तेरहवों गुणस्थान तक है। बांधे हुए कर्म चौदहवों गुण-स्थान में भी हैं, मोक्ष अर्थात् समय समय कर्म से सर्व संसारी जीव छूटते हैं। इसलिये देश से मोक्ष सर्व गुण-स्थानों में हैं। सर्वथा मोक्ष तो चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में है, सिद्धों को छोड़ने के लिये नहीं है, छोड़े हुए का फल १—केवल ज्ञान, २—केवल दर्शन, ३—अनन्त सुख, ४—क्षायक समकित, ५—अक्षय अजर अमर, ६—अरूपी, ७—सबसे उच्च अगुरु लघु; ८—अनंत अकीरण वीर्य। आठ कर्म के क्षय से आठ गुण मिलते हैं तथा सिद्धों को ही मोक्ष कहते हैं।

एक अपेक्षा सर्व संयोगी जीव में नौ तत्त्व मिलते हैं; चौदहवें गुणस्थान में जीव, संवर, निर्जरा मोक्ष ये चार

तत्त्व मिलते हैं। उपचार नय से दो तत्त्व पुण्य पाप भी है। सिद्धों में एक जीव तत्त्व है तथा संवर तत्त्व भी कहते हैं, अपेक्षा से मोक्ष तत्त्व भी कहते हैं दूसरे छः तत्त्व नहीं है।

* इति गुणस्थान द्वार समाप्तम् *

१६ ❀ समवतार द्वार ❀

जीव तत्त्व में कौन कौन समावे ? अनंतानंत जीवों अर्थात् प्राणियों के जीव तत्त्व में समाविष्ट होवे, तथा बारह उपयोग, चार बुद्धि, चार अवग्रह आदि, पांच उट्ठाणादि जीव के गुण में समाविष्ट होवे। चौतीस अतिशय पैंतीस प्रकार की वाणी, एक सौ आठ गुण, जीव के पांच सौ तरेसठ भेद, चौबीस देव, जीव के चौदह भेद, चौदह गुणस्थान, चौबीस दंडक, चार गति, पांच जाति, छः काया, पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म, बादर, त्रस, स्थावर, इत्यादि ये जीव द्रव्य में तथा पर्याय में सब समाते हैं। अजीव में धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल ये पांच द्रव्य घनोदधि आदि ४, भुवन, पाताल, नरकावासा, द्वीप, समुद्र, घट्टपट्ट, विश्रसा १, मिश्रसा २, प्रयोगसा ३, परमाणु यावत, अनंत प्रदेशी कठिन कालायावत, अनंत गुण, लूखा, छाया, धूप, अंधकार, प्रकाश, पांच वर्ण, पांच

रस, दो गंध, आठ स्पर्श, पांच संठाण, छः संघयण, छः संठाण, पांच शरीर, बय्यालीस भाषा, धूलि, राख, चार मन के, चार वचन के, तीन शब्द, इत्यादि अजीव में समाविष्ट होवे २ । नौ प्रकार का पुण्य, चार शुभ कर्म, बय्यालीस पुण्य प्रकृति इत्यादि पुण्य में समाविष्ट होवे ३ । अट्ठारह पाप, आठ कर्म, पाप की ८२ प्रकृति इत्यादि पाप में समाविष्ट होवे ४ । पांच मिथ्यात्व, बारह अव्रत, पांच प्रमाद, पांच निन्द्रा, पांच इन्द्रिय, तेवीस विषय, पन्द्रह योग, छः लेश्या, पच्चीस कषाय, राग, द्वेष, मोह, तीन वेद, चार संज्ञा, तीन अज्ञान, बय्यासी निवृत्ति, पचपन करण, दो ध्यान, सात भय, आठ मद, तीस महामोहनी, बीस असमाधि के स्थान, इक्कीस सबला दोष, पच्चीस क्रिया, उनतीस पाप सूत्र, तैतीस आशातना, सात समुद्रघात, नौ अगुप्ति, तेरह क्रिया के स्थान, सत्तरह असंयम, सत्तावन हेतु, बावन अनाचार, सैंतालीस दोष, अधर्म, अव्रत, अपच्चक्खाण इत्यादि आश्रव में समाविष्ट है ५ ।

पांच समकित, बारह व्रत, पांच महाव्रत, श्रावक की ग्यारह पडिमा, भिक्षु की बारह पडिमा, दस चित्त समाधि, नौ बाड, बाइस परिषह, पांच समिति, तीन गुप्ति, सत्तरह प्रकार का संयम, अट्ठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य, पच्चीस भावना, साधु के सत्ताइस गुण, बत्तीस योग संग्रह, उन-

पचास, भांगे, दया, सत्य, शील, संतोष, क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभी, अवेदी, अकषायी, अलेशी, अयोगी, अशरीरी, धर्म, व्रत, नियम, पच्चक्खाण, पांच चारित्र, छः निर्ग्रन्थ इत्यादि संवर में समाविष्ट है ६। बारह भेदी, तप, बराणवे पडिमा, इकराणवे विनय, पांच सज्झाय, दो ध्यान, नौ प्रकार के प्रमुख का गिनना, तप, जप, सूत्र पढ़ना, धर्म कथा करना इत्यादि निर्जरा में समाविष्ट है ७। एक सौ अड़चास प्रकृति की स्थिति, अनंती कर्म वर्गणा, ये बंध में समाविष्ट है ८। ज्ञानादि मोक्ष मार्ग कर्म का क्षय होना ये मोक्ष में समाविष्ट है ९।

दस दान किस में समावे? एक दान पुण्य में समाविष्ट होता है; एक पाप में समाविष्ट होता है। आठ दान पुण्य पाप दोनों में समाविष्ट होते हैं, सचित जल जीव में, मिश्र जल सचित अचित दोनों में, सचित योनी जीव में, मिश्र दोनों में ऐसे तीन आहार। चौरासी लाख जीव योनी दोनों में, एक क्रोड़ साढ़े सित्यानवें लाख कुल क्रोड़ी जीवों में, धर्म पक्ष संवर में, अधर्म पक्ष आश्रव में, मिश्र पक्ष आश्रव संवर दोनों में, व्रती संयमी पच्चक्खाणी, धर्म जागृत पंडित, धर्म व्यवसाय ये संवर में अव्रती, असंयमी, अपच्चक्खाणी, अधर्म, बाल व्यवसाय, उपक्रम करण, बाल मरण, ये आश्रव में, व्रताव्रती, संयता संयती, पच्च-

क्खाणा पच्चक्खाणी, मिश्र व्यवसाय, मिश्र उपक्रम, मिश्र करण, बाल पंडित, धर्म धर्म, श्रुत जागरापन, बाल पंडित मरण ये आश्रव संवर दोनों में। शुभ योग, शुभ लेश्या शुभ ध्यान, शुभ वीर्य ये निर्जरा बंध दोनों में है, ऐसे दूसरे पदार्थ भी यथा योग्य स्थान में समाविष्ट होते हैं। श्री ठाणांग सूत्र के दूसरे ठाणे में 'जद् छीणम् लोगे तं सव्वं दुपडोयारं पन्नते तंजहा-जीव चेव १ अजीवे चेव २' इस न्याय से नौ पदार्थ भी दोनों में समाविष्ट करे। जिसका विस्तार जैसे जीव अजीव द्वार में कहा, जितने २ जीव के निज गुण उन्हें जीव में समाविष्ट करे, जो जीव के निज गुण नहीं है अभी जीव है पर अन्त में छोड़ देंगे. उन्हें अजीव में समाविष्ट करे। संवर, निर्जरा, मोक्ष जीव में समाविष्ट होवे। पुण्य, पाप, आश्रव तथा बंध ये चार अजीव में समाविष्ट होवे तब तो द्रव्य रहते हैं।

॥ इति समवतार द्वार समाप्तम् ॥

१७. ❀ प्रकृति अप्रकृति द्वार ❀

जीव प्रकृति या अप्रकृति? उत्तर—१ जीव द्रव्य स्वयं तो अप्रकृति है तथा जीव का अशुभ गुण छब्बीस प्रकृति है। जीव के एक सौ अड़चास (१४८) प्रकृति है। २ अजीव में चार अप्रकृति और एक पुद्गल में, कई एक

बंध प्रकृति है। उसमें एक सौ अड़चास प्रकृति है, पर अजीव के कोई प्रकृति नहीं। ३ पुण्य प्रकृति है. अप्रकृति नहीं। भाव पुण्य, भाव प्रकृति है, द्रव्य पुण्य द्रव्य प्रकृति है, पुण्य की बयालीस प्रकृति है। ४ ऐसे ही पाप प्रकृति है, अप्रकृति नहीं, पाप की बयासी प्रकृति है। ५ आश्रव प्रकृति है, अप्रकृति नहीं, आश्रव की सतावन प्रकृति है— पांच मिथ्यात्व, बारह अव्रत, पच्चीस कषाय, पन्द्रह योग ये सब ५७ प्रकृतियां हुई। ६ संवर अप्रकृति है, प्रकृति नहीं परन्तु सत्तावन प्रकृति का संवर किया है। ७ निर्जरा अप्रकृति है प्रकृति नहीं, परन्तु एक सौ बावीस प्रकृति की निर्जरा करते होती है। ८ बंध प्रकृति है, अप्रकृति नहीं, एक सौ बीस प्रकृति को बांधता है। ९ मोक्ष अप्रकृति है, प्रकृति नहीं, परन्त एक सौ अड़चालीस प्रकृति से छूटता है।

॥ इति प्रकृति अप्रकृति द्वार समाप्तम् ॥

१८. ❀ भाव द्वार ❀

जीव द्रव्य तो परिणामिक भाव में है, जीव के गुण पर्याय—१ उदय, २ उपशम, ३ क्षायक, ४ क्षयोपशम और ५ पारिणामिक भाव में है। यहां अशुद्ध गुण वेद. कषाय, लेश्या, मिथ्यात्व आदि ये उदय भाव में हैं। शुद्ध गुण उपशम आदि तीन भाव में है। यहां उपशम समकित

उपशम चारित्र को उपशमिक कहना, सुनना पांच इन्द्रिय तीन वीर्य, पांच लब्धि, इत्यादि क्षयोपशमिक भाव में है। भवीपन, अभवीपन. ये अनादि पारिणामिक भाव में है। सिद्धपन सादि पारिणामिक भाव में है। यहां कोई पूछे कि अज्ञान एवं मिथ्यात्व को उदय भाव में भी कहा तथा क्षयोपशमिक भाव में भी कहा ? इसका उत्तर—यदि अजान-पना रूप अज्ञान, ज्ञानावरणी कर्म का उदय है जिसके उदय से जीव किसी भी वस्तु का पता नहीं लगा सकता है और जो विपरीत जानने रूप अज्ञान है, वह ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम है। कर्म टूटने से जानपना आता है। ऐसे ही मिथ्यात्व मोहनी का उदय भी मिथ्यात्व सहित है अतः अशुद्धपन होने के कारण अज्ञान कहा है, परन्तु ज्ञान जीव का लक्षण है, अतः मिथ्यात्व मोहिनी का उदय तो उदय भाव में है परन्तु विपरीत श्रद्धना रूप जो विपरीत मिथ्यात्व है वह तो मोहनी पतली (कम) होने से है। श्रद्धा करना जीव का गुण है परंतु विपरीत श्रद्धना यह मिथ्यादृष्टि है जो क्षयोपशम भाव में है, इस प्रकार जीव पांच भाव में है, परन्तु मुख्य नय में जीव द्रव्य पारिणामिक भाव में है ?।

अजीव में धर्माधर्म आकाश, काल ये चार अनादि पारिणामिक भाव में है और पुद्गल स्वयं तो पुद्गलपन की अपेक्षा अनादि पारिणामिक भाव में है, परन्तु इनकी अवस्था प्रमाणुपन इत्यादि सब सादि पारिणामिक भाव में

है। तथा पुद्गल के अनन्त प्रदेशी स्कंध कर्म पन में परिणमें, वे उदय भाव में हैं। फिर उपचार से उपशमित किये, पुद्गल क्षय किये, एवं पुद्गल क्षयोपशमित किये इत्यादि की अपेक्षा से उपशम, क्षयोपशम क्षायिक भाव में भी है २।

पुण्य जीव के एवं अजीव के उदय में आया तब उदय भाव में तथा सादि पारिणामिक भाव में है ३।

ऐसे ही पाप भी जीव अजीव के उदय में आया तब उदय भाव में तथा सादि पारिणामिक भाव में है। आश्रव भी ऐसे ही है ५।

संवर उपशमिक, क्षायिक. क्षयोपशम भाव में है। पारिणामिक भाव तो सर्वत्र फैला हुआ ही है। इसलिये वह भी मिलता है ६।

निर्जरा भी ऐसे ही तीन भाव में है, उपशम भाव में निर्जरा नहीं है, क्योंकि कर्म आवरण में रहे हुए हैं ७।

बंध पुण्य के समान है ८।

मोक्ष संवर के समान है परन्तु एक अपेक्षा से क्षायिक भाव में है। ये तो पांच भाव में नौ पदार्थ बताये हैं, अब नौ पदार्थ में पांच भाव इसी रीति से कहते हैं। जीव में पांच भाव हैं. अजीव, पुण्य, पाप, आश्रय तथा बन्ध इन पांचों में दो दो भाव हैं, संवर में चार भाव हैं, निर्जरा में तीन तथा मोक्ष में एक भाव है।

॥ इति भाव द्वार समाप्तम् ॥

१६. ❀ द्रव्य गुण पर्याय द्वार ❀

१—जीव का द्रव्य जीव असंख्यात प्रदेशी है। गुण ज्ञान दर्शन के हैं। तद्रूप अनादि गुण है। चारित्र तपस्या आदि गुण है। कषाय आदि अशुद्ध गुण है। वीर्य एवं उपयोग तद्गुण पर्याय के दो भेद—एक द्रव्य पर्याय दूसरा गुण पर्याय। द्रव्य पर्याय नरकादि। गुण पर्याय मति, श्रुति आदि। ये जीव के द्रव्य पर्याय कहलाते हैं।

२—अजीव के द्रव्य, पांच धर्मादि, गुण जड़ लक्षण पर्याय पलटने रूप परमाणु आदि। धर्मास्ति का द्रव्य धर्म द्रव्य, गुण चलन, पर्याय अनन्त, जीव और अनन्त पुद्गलों को चलाने की शक्ति, इसलिये अनन्त पर्याय ऐसे ही अधर्म का द्रव्य एक असंख्यात प्रदेशी, गुणस्थिर, पर्याय अनन्त, जीव पुद्गल को स्थिर रखने की शक्ति, आकाश का द्रव्य एक अनन्त प्रदेशी, गुण विकास, पर्याय अनन्ता, द्रव्य को जगह देने की शक्ति, काल का द्रव्य एक समय, गुण वर्तना (व्यतीत होना) रूप। पर्याय अनंत जीव पुद्गल परवर्ते। नई नई अवस्था करता है, इस कारण एक समय के अनंत पर्याय, पुद्गल का द्रव्य पुद्गल परमाणु यावत् अनन्त प्रदेशी, गुण ग्रहण लक्षण, पर्यायं एक, गुण काला, यावत् अनन्त गुण काला, ऐसे यावत लूखा।

३–पुण्य का द्रव्य पुण्य शुभकृत रूप, गुण जीव को सुखदाता, पर्याय अनंत, चारित्र मोहनी के विकार से उत्पन्न हुए संक्लिष्ठ विशुद्ध स्थान तथा अनंत परमाणुओं के वर्णादि तथा अनंत जीवों पर है।

४–ऐसे ही पाप का द्रव्य पाप, गुण जीव को दुख देने वाला। पर्याय अनंत वर्णादि।

५–आश्रव का द्रव्य आश्रव मिथ्यात्वादि। गुण नये कर्म ग्रहण करने का। जीव को मलिन करने का, तथा उज्ज्वल भी करे, पर्याय अनन्ता कर्म आये, लेश्या के, योग के कषाय के परिणाम, मिथ्यात्व का द्रव्य मिथ्यात्व, गुण विपरीत श्रद्धा करना पर्याय अनन्त, मिथ्यात्व मोहनी का पर्याय इत्यादि सब के कहना।

६–संवर का द्रव्य संवर समकित आदि, गुण कर्म रोकने का, पर्याय अनन्त कर्म वर्गणादि, समकित का द्रव्य समकित, गुण श्रद्धना पर्याय अनन्ती वस्तु श्रद्धे, इत्यादि सबका कहना।

७–निर्जरा का द्रव्य निर्जरा, गुण कर्म तोड़ने का, पर्याय अनन्त, कर्म द्रव्य वर्गणा टूटी।

८–बंध का द्रव्य बंध, गुण जीव को बांधने, का पर्याय अनन्त, कर्म द्रव्य वर्गणा बांधी।

९–मोक्ष का द्रव्य मोक्ष, गुण जीवों को मुक्त करने का। पर्याय अनन्त। कर्म टूटे अनन्त गुण प्रकटे इसलिए

अनन्त पर्याय । ज्ञान का द्रव्य ज्ञान, गुण जानपना, पर्याय अनन्त द्रव्य गुण पर्याय को जाने इसलिये अनंत पर्याय, दर्शन का द्रव्य दर्शन, गुण श्रद्धा करना, पर्याय अनन्त द्रव्य पर्याय श्रद्धे, चारित्र का द्रव्य चारित्र, गुण कर्म तोड़ने का, तथा आरम्भ परिग्रह ममता घटने का, पर्याय अनन्त द्रव्य का ममत्व भाव घटा, अनन्त कर्म रोके, तप का द्रव्य तप, गुण पूर्व कर्म क्षय करने का, खाने आदि की ममता घटाने का, पर्याय अनन्त वस्तु की ममता मिटी अनन्त कर्म टले, अनन्त पर्याय ।

॥ इति द्रव्य, गुण, पर्याय द्वार समाप्तम् ॥

२०. ❀ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण द्वार ❀

१–जीव द्रव्य से अनन्त, २–क्षेत्र से सर्व लोक में, ३–काल से आदि अंत रहित, ४–भाव से वर्ण गंध रस स्पर्श रहित, ५– गुण चेतना ।

१–अजीव द्रव्य से अनंत, २–क्षेत्र से लोक अलोक में, ३–काल से नित्य, ४–भाव से वर्णादि सहित भी है तथा रहित भी है, ५–गुण से जड़ लक्षण ऐसे धर्म आदि पांच द्रव्य के पांच बोल पूर्व के समान ।

१—पुण्य द्रव्य से अनन्तों को जीवन दाता है इस कारण अनन्त तथा अनन्त प्रदेशी है, २—क्षेत्र से सर्व लोक में है, ३—काल से नित्य, ४—भाव से शुभ वर्णादि सोलह बोल सहित, ५—गुण सुख दाता।

पाप और आश्रव भी ऐसे ही हैं।

१—संवर द्रव्य से सम्यकदृष्टि की अपेक्षा असंख्यात, सिद्धों की अपेक्षा तथा सर्व जीवों की अपेक्षा अनन्त, २—क्षेत्र से सर्व लोक में, ३—काल से नित्य, ४—भाव से अरूपी, ५—गुण कर्म रोकने का, ऐसे ही निर्जरा द्रव्य अनंत, शेष वैसे ही।

बंध पुण्य के समान।

मोक्ष निर्जरा के समान।

ये सब द्रव्य की अपेक्षा बताये हैं।

एक द्रव्य की अपेक्षा कहते हैं। १— जीव द्रव्य से एक, २—क्षेत्र से असंख्य प्रदेश अवगाहन वाला, उत्कृष्ठ सर्व लोक अवगाहन वाला, ३—काल से नित्य, ४—भाव से अरूपी, ५—गुण चेतना ऐसे ही अजीव के चार द्रव्य पूर्व के समान कहना। एक पुद्गल की अपेक्षा द्रव्य से एक, २—क्षेत्र से जघन्य (कम से कम) एक प्रदेशावगाय उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) सर्व लोक व्यापी, ३— काल से कम से कम एक समय अधिक से अधिक असंख्यात

काल की स्थिति, ४--भाव से अनन्त वर्णादि सहित, ५--गुण से ग्रहण। १--पुण्य द्रव्य से एक प्रकृत, २--क्षेत्र से असंख्य प्रदेश अवगाही, ३--काल से कम से कम एक समय. अधिक से अधिक बीस क्रोड़ा क्रोड़ी सागर, ४-भाव से रूपी शुभ वर्णादि सहित, ५--गुण मींठा। १--पाप द्रव्य से एक प्रकृत, २--क्षेत्र से असंख्य प्रदेश अवगाही, ३--काल से कम से कम अन्तर्मुहूर्त, अधिक से अधिक सित्तर क्रोड़ा क्रोड़ सागर, ४--भाव से अशुभ वर्णादि सहित, ५--गुण कटु (कड़वा) १--आश्रव द्रव्य से एक प्रकृत, २--क्षेत्र के असंख्य प्रदेशी, ३--काल से सित्तर क्रोड़ा क्रोड़ सागर, ४--भाव से शुभाशुभ वर्णादि, ५-गुण कर्म ग्रहण करने का। १--संवर--द्रव्य से एक प्रकृत, २--क्षेत्र से असंख्य प्रदेश, ३--काल से कम से कम एक समय अधिक से अधिक अनादि अनन्त, ४--भाव से अरूपी, ५--गुण कर्म रोकने का। १--निर्जरा द्रव्य से एक प्रकृत, २--क्षेत्र से असंख्य प्रदेश, ३--काल से कम से कम एक समय अधिक से अधिक अनादि तथा एक प्रकृति की अपेक्षा सात हजार वर्ष कम सित्तर क्रोड़ा क्रोड़ सागर, ४--भाव से अरूपी, ५--गुण कर्म तोड़ने का। १--बंध द्रव्य से एक प्रकृत, २--क्षेत्र से असंख्य प्रदेश, ३--काल से नये बंध की अपेक्षा सित्तर क्रोड़ा क्रोड़ सागर, ४--भाव

से शुभाशुभ वर्ण आदि सहित, ५–गुण जीव को मोक्ष में जाने से रोके। १–मोक्ष द्रव्य से एक प्रकृत, २–क्षेत्र से असंख्य, काल से एक समय, ४–भाव से अरूपी, ५–गुण कर्म से छूटना।

ये तो मुख्य नय में कहे हैं, तथा औपचारिक नय में पुण्य, पाप, आश्रव, बंध ये चार जीव के परिणाम गिने तो १–द्रव्य से अनन्त, २–क्षेत्र से सर्व लोक में, ३-काल से अनादि अनन्त तथा अनादि सांत ४–भाव से अरूपी, ५–गुण से वैसे ही। तथा पुण्य पाप के बंध परिणाम अवंतर से गिने तो बहुलता से जाने, तथा एक एक प्रकृति का बंध काल से अनादि अनंत, अनादि सांत, सादि सांत ये भांगे मिलते हैं। संवर निर्जरा, मोक्ष के १–द्रव्य अनंत २–क्षेत्र से सर्व लोक, ३–काल से संख्यात काल तक दूसरे परिणाम में नहीं परिणमें उतने समय पर्यन्त, ४–भाव से शुभाशुभ वर्णादि सहित, ५–गुण ग्रहण, गल जावे, मिल जावे, बिखरे जावे। तथा सिद्ध को मोक्ष तत्त्व में गिने तो १–द्रव्य से अनन्त, २–क्षेत्र से पैंतालीस लाख योजन प्रमाण, लोक के मस्तक पर सिद्ध शिला है, उसके ऊपर एक योजन के चौवीसवें भाग सिद्ध की अवगाहना है, ३–काल से अनादि अनंत, ४–भाव से अरूपी, ५–गुण केवल ज्ञान आदि। एक सिद्ध की अपेक्षा १–द्रव्य से एक, २–क्षेत्र

से असंख्यात प्रदेश अवगाहना किये. तीन सौ तेतीस धनुष बत्तीस आंगुल प्रमाण की अवगाहना ३. काल से सादी अंनत ४. भाव से वैसे ही ५. गुण से वैसे ही। पुण्य पाप आदि सात पदार्थ वाला जीव को गिने तो पुण्य १. द्रव्य आदि सात के द्रव्य अनंत २. क्षेत्र से सर्व लोक, ३. काल से अनादि अनन्त, काल से पुण्य, पाप, आश्रव, बंध के परमाणु सादि सांत है, ४. भाव से अरूपी, ५. गुण जानपना। १. एक जीव की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र से असंख्य प्रदेश, २. उत्कृष्ट पाप का बंध अनादि का सर्व लोक, ३. काल से पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, निर्जरा, का अनादि अनन्त अनादि सांत, एक प्रकृति की अपेक्षा सादि सांत, तथा संवर निर्जरा मोक्ष ऐसे ही, किन्तु सिद्ध में गिने तो अनादि अनन्त, ४. भाव से अरूपी, ५. गुण चेतना इत्यादि अनेक अपेक्षा है।

* इति द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण द्वार समासम् *

२१. ❀ उत्पाद, व्यय, ध्रुव द्वार ❀

उत्पाद नौ पदार्थ नये उत्पन्न नहीं होते हैं, विनाश भी नहीं होते हैं एवं ध्रुव शाश्वत है परन्तु परिणामवशात् प्रण में इस अपेक्षा से कहते हैं। १-जीव की उत्पत्ति नई गत्यादिक में उत्पन्न होवे, नये गुणस्थान में चढ़ना, नये भाव का आदरना। २- व्यय अगली गति आदि को छोड़ना ३-ध्रुव है उसी रूप में रहना। १-जीव द्रव्य से शाश्वत है, धर्म, अधर्म, आकाश, काल की उत्पत्ति जीव पुद्गल को अपने वश में करना, २-व्यय पराये वश होना ३-जैसे जीव पुद्गल स्थिर रहते हैं वह धर्मास्ति का व्यय, चले तो अधर्मास्ति का व्यय, धर्म की उत्पत्ति आदि ध्रुव अर्थात् चार शाश्वत है तथा पुद्गल की उत्पत्ति नये स्कन्ध का होना, व्यय बिखरना ध्रुव शाश्वत रहना २। पुण्य की उत्पत्ति नये शुभ परिणामों का उत्पन्न होना; नये परमाणु का पुण्य रूप में उत्पन्न होना, व्यय विशुद्ध भाव से गिरना, तथा पुण्य का क्षय होना, ध्रुव पुण्य रूप में रहना तथा अनेक जीवों की अपेक्षा से तथा अनेक पुद्गलों की अपेक्षा से शाश्वत है ३। ऐसे ही पाप की उत्पत्ति अशुद्ध परिणाम का उत्पन्न होना तथा परमाणु पुद्गल का पाप रूप में परिणमन होना। व्यय से विशुद्ध भाव को ग्रहण करना,

पाप परमाणुओं को छोड़ना। ध्रुव शाश्वत है ४। आश्रव की उत्पत्ति नये परमाणु आना, मिथ्यात्व रूप में परिणमन होना तथा योगों की प्रवृत्ति यह व्यय, पूर्व संचित मिथ्यात्व आदि क्षय किये तथा अशुभ भाव रोके यह ध्रुव शाश्वत ५। संवर की उत्पत्ति समकित आदि निवृत्ति भाव ग्रहण किये, व्यय-आश्रव में प्रवृत्ति करना तथा काल का कहना, ध्रुव शाश्वत क्षायक समकित आदि तथा जितने समय अन्य समकितादि रहे यह अनेक जीवों की अपेक्षा ६। निर्जरा की उत्पत्ति तप करना, व्यय तप छोड़ना, तथा नये कर्म बांधना, अथवा मुक्ति जाना। ध्रुव ऐसे ही ७। बंध की उत्पत्ति शुभाशुभ योग आदि सेवन करना परमाणु ग्रहण कर कर्म रूप में परिणमन करना। व्यय बंधे हुए कर्मों का निर्जरित होना अर्थात् छूटना, ध्रुव शाश्वत है ८। मोक्ष की उत्पत्ति कर्मों का क्षय, व्यय कर्म तथा ज्ञानादि नाश हो। ध्रुव से शाश्वत। सिद्धों के पर्याय की अपेक्षा उत्पत्ति व्यय है। अपने पर्याय की उत्पत्ति व्यय नहीं है, ऐसे सब जो जो नये भाव उत्पन्न होवे वह उत्पत्ति, पहिले वाले छोड़े वह व्यय है, जैसे ही रहे वह ध्रुव, तथा दूसरी अपेक्षा से ज्ञान की उत्पत्ति-वह-ज्ञान, व्यय अज्ञान। ध्रुव अपने भाव में रहना शाश्वत इत्यादि ९।

❋ इति उत्पत्ति, व्यय, ध्रुव द्वार समाप्तम् ❋

२२. ❀ तालाब दृष्टांत द्वार ❀

१. जीव रूप तालाब है, २. अजीव रूप जल, ३. आश्रव रूप जल आने का मार्ग (नाला) ४. उसमें स्वच्छ जल आवे वह पुण्य, ५. गंदा जल आवे वह पाप है, ६. जल तथा तालाब एक रूप होवे वह बंध है, ७. आते हुए जल मार्ग (नाले) को रोके वह संवर है, ८- अरहट आदि से पहिले का जल निकाले वह निर्जरा है ९– सर्व तालाब खाली हो जावे वह मोक्ष है। यह दृष्टान्त कहा है।

अब भाव द्वार की अपेक्षा कहते हैं जैसे पुरुष का चिंतामणी रत्न प्रमादवश तालाब में गिर पडा तब आव रोके बिना जल निकाले तो तालाब खाली नहीं होवे, और रत्न हाथ नहीं आवे, वैसे ही केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन रूप रत्न जीव रूप तालाब में है, वह कर्म रूपी जल से ढका हुआ है। किन्तु वह मिथ्यात्वादि आश्रव रोके बिना अकाम निर्जरा, बाल तपस्यादि से कर्मों की निर्जरा करे। कर्म रूप जल निकाले परन्तु जीव रूप तालाब खाली नहीं होवे, परन्तु कोई चतुर पुरुष पहले से आव आदि रोक कर फिर रहट आदि के द्वारा जल निकालने से तालाब खाली होवे और चिंतामणी रत्न हाथ लग जावे, वैसे ही जीव रूप तालाब के समकित आदि से आश्रव रूप जल मार्ग रोके फिर तपस्यादि करके कर्म रूप जल निकाले तब केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन रूपी चिंतामणी रत्न हाथ में आवे और मुक्ति प्राप्त होवे।

● इति तालाब दृष्टांत द्वार समाप्तम् ●

२३. ❀ नव तत्त्व में भेला अलग द्वार ❀

व्यवहार नय में नौ पदार्थ सम्मिलित है तथा निश्चय नय में अपने अपने स्वभाव में रहते हैं। पुण्य, पाप, आश्रव बंध एवं अजीव ये पांच तत्त्व सम्मिलित है और जीव, संवर निर्जरा एवं मोक्ष ये चार तत्व सम्मिलित है। अब जीव भाजन है। इसमें शरीर अजीव है, पुण्य करता भी है भोगता भी है, आश्रव से कर्म आते हैं, संवर से कर्म रोकते हैं। निर्जरा से कर्म तोड़ते हैं और नये बांधते हैं व पुराने टूटते भी हैं, इसलिये जीव तत्त्व नौ ही तत्त्वों में पाता है। अजीव धर्माधर्म, आकाश, काल ये स्वयं अजीव पदार्थ है, बाकी सब इसमें रहते हैं, परन्तु उनके गुण नहीं है इस कारण से अलग है। पुद्गल स्वयं अजीव है, जीव के लगे हुए हैं, जीव को सुख दुख देने वाले हैं, कर्म रूप में परिणमन होते हैं अतः शुभाशुभ भी है कर्मों को लाते भी हैं, बांधते भी हैं, पुद्गल को संवरते अर्थात् रोकते भी हैं, निर्जरते (क्षय करते) भी हैं, क्षय भी करे अतएव अजीव में पांच पदार्थ स्वयं अजीव सहित मिलते हैं। पुण्य करने वाला जीव है, पुण्य स्वयं अजीव है, शुभ रूप में परिणमन होवे इससे पुण्य है, पुण्य बांधे उस समय पाप भी बांधता है, कर्म भी आते हैं, संवर होवे निर्जरा होवे, बंधन होवे, क्षय भी होते हैं, ऐसे पाप आदि सभी जाने।

मिथ्यात्वादि अशुभ आश्रव, पाप की करणी करने से आश्रव, पाप, बंध ये तीनों उत्पन्न होते हैं, शुभ योगादि पुण्य की करणी करने से पुण्य उत्पन्न होता है। शुभ कर्म आते व बांधते भी हैं, पुराने कर्मों को निर्जरते हैं अतः पुण्य, पाप, आश्रव, बंध तथा निर्जरा उत्पन्न होते हैं। समकित आदि संवर की करणी निवृत्ति भाव से आते हुए कर्म रोकने से संवर उत्पन्न होता है, तथा अपेक्षा से पुण्य पाप, आश्रव, बंध की निर्जरा होवे। इसलिये श्री उत्तरा-ध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्याय के ६७वें बोल में कहा है " कोह विजएणं खंति जणयइ, कोह वेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वं बद्धं च निज्जरेई। इति वचनात्।" इसका परमार्थ क्रोध जीता, संवर से कर्म रोके तथा क्षमा करने में, शुभ मन करने में शुभ मन आदि योग प्रवर्तोये, ऐ जीव! तेरे संचित कर्म है, तो तूं समभाव से सहन कर इत्यादि योग वर्ते। जिससे पुराने कर्मों की निर्जरा होवे तथा नये शुभ आये एवं बांधे अतः पुण्य भी उत्पन्न होवे। क्योंकि श्री संथारापयन्ना में कहा है कि आश्रव, संवर, निर्जरा ये तीनों सम्मिलित होने पर तीर्थ कहलाते हैं, इसलिये संथारा आदि करते हुये योग रोके, जिससे खाने आदि के कर्म भी रुके, नये शुभ कर्म आवे, जिनसे देवगति तथा तीर्थङ्कर आदि प्रकृति का बंध भी होता है। पुराने अशुभ कर्म क्षय

करते हैं। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नतीसवें अध्याय के ४०वें सूत्र में कहा है कि 'भत्त पच्चक्खाणेणं अणेगायं भव समाइं निरुंभइ' इति वचनात्। इस कारण से संवर की करणी करते हुए पाप छोड़कर ६ पदार्थ उत्पन्न होते हैं अतः उस समय कषायादि से पाप भी है। परन्तु संवर की करनी से केवल आते हुए कर्मों को रोकते हैं। पुराने टूटते हैं वे निर्जरा से, बंधन करे वह शुभ आश्रव से पर संवर का तो कर्म रोकने का ही स्वभाव है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नतीसवें अध्याय में कहा है कि "संजमेणं अणण्हत्तं जणयइ तवेणं वोदाणं जणयइ।" फिर श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पांचवें उद्देश्य में तुंगिया नगरी के श्रावकों ने पार्श्वनाथ भगवान के संतों से पूछा कि मंयम और तप का क्या फल है? तब स्थविर मुनि ने कहा 'संजेमण अज्जो! अणण्हय फले, तेवणं वोदाणं फले।' तब श्रावकों ने पूछा कि देवलोक में कैसे जाते हैं? इस पर कालिय पुत्र स्थविर मुनि ने कहा "पुव्व तवेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति १। इधर महिल स्थविर ने कहा 'पुव्व संजमेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति २।' तब आनन्द रक्षित स्थविर ने कहा 'कम्मियाए अज्जो! देवा देवलोएसु उववज्जंति ३।' इस पर काश्यप स्थविर मुनि ने कहा 'संगियाए अज्जो! देवा देव लोएसु

उववज्जंति ४। इस प्रकार भिन्न २ चार उत्तर फरमाये हैं। साधु असत्य नहीं बोलते हैं फिर चार उत्तर कैसे बताये। ये चारों ही उत्तर सत्य है। भगवान ने गोतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में स्वीकार किया है। इसलिये ये चारों उत्तर भिन्न २ अपेक्षा से हैं। पूर्व के दो पाठ तो व्यवहार की अपेक्षा से है। ऊपर के दो पाठ निश्चय की अपेक्षा से है, कैसे ? पूर्व संयम, पूर्व तप कहा है, पर संयम तप ऐसा नहीं कहा, इसका कारण यह है कि, पूर्व संयम अर्थात् सराग संयम, तथा सराग तप के प्रभाव से देवता में उत्पन्न होते हैं, पर वीतरागी संयम वाला देवगति का आयुष्य नहीं बांधते हैं। सरागपन से संयम का वेदन नहीं किया. संयम से अशुभ कर्म रोके फिर पूंजते समय परठते समय यत्ना की वह संयम है, पांच समिति भी संयम है, उनमें शुभ योग की प्रवृत्ति हुई वह शुभ आश्रव है, उससे देवगति का शुभ बंध होता है। इस कारण से पूर्व संयम से देवगति में जाते हैं, ऐसे ही पूर्व तप से भी देवगति में जाते हैं। यह व्यवहार नय का वचन है, तीसरा पाठ कर्म के प्रताप से उत्पन्न होते हैं, 'संगीयाए सराग' यह सराग लेश्या मोह के प्रताप से उत्पन्न होती है, मोह के प्रताप से देवता में कैसे उत्पन्न होते हैं ? क्योंकि सर्वथा राग द्वेष क्षय हो जाते तो मोक्ष जाते, पर

राग द्वेष रहा उसी के प्रताप से देवता में उत्पन्न होते हैं, इस न्याय से ठीक है। जैसे कोई पुरुष पन्द्रह कोस दूर ग्राम की ओर चला, जाते हुए दस कोस पर थक गया, तब वहीं रात रहा, तो वह पुरुष किसके प्रताप से गया तथा रहा ? वह थकने के प्रताप से रहा, आगे नहीं जा सका, ऐसे ही पूर्व संयम तप के कारण से देवलोक गया तथा राग द्वेष के प्रताप से देवलोक में रहा आगे नहीं जा सका, तथा एक नय से कषाय के प्रताप से देवतापन में उत्पन्न होते हैं, वह कषाय शुभ दिखती है, क्योंकि श्री ठाणांग सूत्र के दूसरे ठाणे में नारकी का शरीर राग द्वेष से उत्पन्न हुआ कहा है, ऐसे ही वैमानिक पर्यन्त तथा चौथे ठाणे में चौवीस दण्डक के शरीर चार कषाय से उत्पन्न हुए कहा, इस अपेक्षा से नारकी का शरीर अशुभ कषाय से उत्पन्न हुआ दिखता है तथा वैमानिक का शरीर शुभ कषाय से उत्पन्न हुआ दिखता है, क्योंकि अशुभ कषाय से देवता में कैसे जावे ? परन्तु यहां तो कषाय से उत्पन्न हुआ कहा है, तुंगिया नगरी के अधिकार में सराग से देवगति कही है, फिर कर्म ग्रंथ में भी कर्मों की प्रकृतियों का कारण कषाय है। कषाय से ही प्रकृति है, अच्छा बुरा रस पड़ता है, अशुभ कषाय से अशुभ प्रकृति का अशुभ रस पड़ता है, शुभ कषाय से शुभ प्रकृति का शुभ रस पड़ता है। सूत्र में चार कषाय का

फल चार गति से फिरना बताया है। फिर श्री आचारांग सूत्र में 'लोभे अलोभेणं दुगंच्छ माणे' यहां दुगंच्छा ठीक कहा है। श्री भगवती सूत्र में गर्हा संयम कहा है, आर्त के दो भेद कहे हैं, १-प्रशस्त, २-अप्रशस्त कैसे ? कषाय से ठीक होता है, पर अन्तर में कषाय अशुभ ही है इस दृष्टांत से कहे हैं। शुभ योग की अपेक्षा राग शुभ दिखाई देता है। जैसे स्वयं तो चोर है पर साहुकार के साथ रहने से साहुकार जैसा प्रतिभाषित होता है। तथा बड़ी कषाय छूटी तथा छोटी कषाय रही, इसलिये शुभ दिखाई देता है। जैसे कृष्ण लेश्या की अपेक्षा से नील शुभ लेश्या तथा नील से कापोत शुभ, पर वास्तव में तीनों लेश्या अशुभ ही है, इस न्याय से संसार का राग छूटने से धर्म का राग आया जो पूर्व की अपेक्षा से सुलभ दिखाई पड़ता है, पर स्वयं अशुभ है इसके छूटने से मुक्ति होगी। जैसे गौतम स्वामी से वीर भगवान ने कहा, मुझ से राग हटा और जब राग हटाया तब केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। ऐसे इस कषाय से यथाख्यात चारित्र नहीं आया, सातवें गुण स्थान में मुक्ति की वांछा है, ऐसा होते हुए भी मुक्ति नहीं पाता, तथा इसके छूटने से मुक्ति मिलती है, इस अपेक्षा से कषाय त्यागने योग्य है, कषाय छूटी तथा योग शुभ हुआ इससे कषाय को शुभ गिना है। जैसे एक राग तो स्त्री

पुत्र पर है वह भी कषाय दूसरा राग अरिहंत, साधु, श्रावक, धर्म, दया, शील, सत्य संतोप, क्षमा तथा जीव के उद्धार करने के प्रति है. ये दोनों राग समान कैसे हो सकते हैं ? श्री आवश्यक सूत्र में भी धर्म का राग तो प्रशस्त कहा है, फिर भगवान ने गोशाला को बचाया वह भी सरागपन से बचाया कहा है । अतः उस रागपन में पाप होवे तो वीतराग को होवे, यदि राग बिना बचाया तो गोशाला ने दो साधुओं को जलाया, उसे कैसे बचाया ? इस कारण से जीव दया ऊपर राग होवे, उसमें पाप, पुण्य का बन्ध है, शुभ आश्रव बताया है । श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्याय की ७वीं गाथा में कहा है, 'रागोय दोसो विय कम्मं बीयं' इति वचनात् । राग द्वेष दोनों कर्म के बीज है । राग द्वेष बिना कर्म नहीं बांधता है । यदि राग द्वेष में एकान्त पाप होवे तो पाप का बीज राग द्वेष है, पर पुण्य का बीज कौन है ? पुण्य का बीज भी कषाय ही बताया है, जैसे 'संसार भओ विग्गाभिया, जम्मणा मरणाणं' इस भय को शुभ बताया है, तथा श्री उववाइ सूत्र में स्थविर भगवंत सूत्र पढकर मत्त मातंग के समान रमण करते हैं । तथा श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्याय की २५०वीं गाथा में 'रमिज्जा संजमे मुणी' इस रीति से भी शुभ जाने तथा दूसरे 'अट्ठिमिज्जा

पेमाणु रागरत्ता' ये राग भी शुभ बताया है, तथा 'अनुधनाओं सरीर कलीमली कखुसंवि मुच्चंति' यह दुगंछा भी शुभ बतायी है। इसके अनुसार कषाय को भी शुभ व्यवहार कहते हैं तथा निश्चय में तो सर्व कषाय क्षय होने से ही वीतरागपना होता है परन्तु कषाय रहते वीतरागता नहीं होती। इसलिये सर्व कषाय अशुद्ध है। भगवान की आज्ञा में नहीं है, इसीलिये दसवें गुणस्थान तक सूत्र विपरीत चलना कहा है; इस न्याय से आज्ञा तो नहीं पर व्यवहार से कषाय में शुभ आश्रव बताया है। शुभ आश्रव से निर्जरा तथा पुण्य होता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नतीसवें अध्याय में कहा है 'वंदणयाएणं नियागोयं कम्मं खवेइ, उच्च गोयं निबंधइ' इति वचनात्। वंदन से निर्जरा तथा पुण्य बंध दोनों कहा है, निर्जरा करते हुए बंध कैसे होवे? जैसे चड़स आदि से कुए का पानी निकालते समय पानी वापिस गिरता है, वैसे निर्जरा करते हुए छट्ठे गुण स्थान में नियमा सात कर्म का बंध होता है, परन्तु बांधते अल्प है और तोड़ते अधिक है, तथा तोड़ने का कामी है बांधने का कामी नहीं, इसलिये समय समय में उज्ज्वल होता रहता है। जैसे किसी पर एक हजार रुपये का कर्ज है, उसके व्यापार करते हुये समय समय पर व्याज अधिक बढ़ता है, किसी समय कमाता भी है, पर अधिक

कमाता है जिससे देना कम होता रहता है और धन बढ़ता जाता है ऐसे ही साधु प्रमुख ने पहिले कर्म रूपी कर्ज संचित किया है, उनके प्रताप से समय समय में सात आठ कर्म बांधने रूप व्याज बढ़ता है, तथा बीच में शुभ योग आदि कमाई भी होती है व्याज, किराया सब चुका देने के पश्चात् दिनदिन प्रति कर्म कम होते जाते हैं, ज्ञान आदि रूप धन बढ़ता जाता है, जिससे मुक्ति मिलती है, परन्तु जहां तक आश्रव नहीं रोके वहां तक कर्म का बंधन नियम है, इसलिये संवर होवे उस समय सात पदार्थ उत्कृष्ट उत्पन्न होते है, पर संवर में निश्चय से पुण्य पाप एक भी नहीं है क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्याय में कहा है 'संवरे कायगुत्तो पुन्न पावासव निरोहं करेइ' इति वचनात्। यहां पुण्य, पाप दोनों को आश्रव कहा है, इन दोनों आश्रवों को रोके उसे संवर कहा है। इसलिए संवर अकेला ही शुद्ध निष्कलंक है पर नव पदार्थ व्यवहार से शामिल है, नव पदार्थ शामिल होने से एक जीव कहलाता है।

॥ इति नव तत्त्व में भेला अलग द्वार समाप्तम् ॥

२४. ❀ हेय, ज्ञेय, उपादेय द्वार ❀

उपादेय किसे कहते हैं ? जिस कार्य को करने की भगवान की आज्ञा है, उस कार्य को करने की साधु आज्ञा देवे। जिस कार्य के करने से धर्म हो और सब के आदरने

योग्य हो। साधुपन, समकित, श्रावकपन, संवर, त्याग, वैराग्य, निवृत्ति भाव, पढ़ना, मनन करना, तप, जप आदि सब उपादेय कहलाते हैं। हेय किसे कहते हैं? जिस कार्य में करने की भगवान की आज्ञा नहीं साधु भी उसके लिये मना करते हैं। कोई पूछे कि यह कार्य करने से मुझे क्या फल मिलेगा? इस पर साधु कहे कि, तुम्हें पाप होगा, हिंसा, झूंठ, चोरी, क्रोध, मान, कषाय, रागद्वेष, निंदा, निद्रा, प्रमाद, अधर्म, मिथ्यात्व, कुपात्र सेवा, आश्रव इत्यादि हेय कहलाते हैं, अतः सब छोड़ने योग्य हैं। ज्ञेय किसे कहते हैं? जिस कार्य को करने की साधु आज्ञा न देवे किन्तु निषेध भी नहीं करे, पुण्य पाप नहीं बतावे, गुण दोष नहीं दिखावे, संदेह में बात रखे, मौन रहे, जिस काम के करने से किसी जीव को गुण होवे किसी को अवगुण होवे जैसे परब, सत्तुकार, मिथ्यात्व का दान, वीतराग के सामने नाटक, भक्ति, स्तोत्र, साधारण गृहस्थी का दान, स्वामी वात्सल्य, प्रभावना, दलाली, गृहस्थी की विनय, साधु के निमित्त गृहस्थी उठे बैठे, शरीर के योग प्रवर्तावे, जीव दया के लिये धन आदि दे, मिश्र भाषा, मिश्र पानी, शील इत्यादि रखने के लिये मरण, सुदर्शन सेठ के समान, असत्य मृग आदि बचाने के लिये, अशुद्ध दान साधु को देना, गृहस्थी का योग व्यापार, वैयावच्च,

पूंजना, परठना इत्यादि ज्ञेय कहलाते हैं जो जानने योग्य है।

फिर इस विषय में गृहस्थी पूछे कि इसमें धर्म है या पाप है? तब साधु मौन रखे, यह कार्य मैं करुं या नहीं करुं? तो साधु ऐसा न कहे कि तूं कर अथवा मत कर, समुच्चय कथा प्रसंग में कहे कि अमुक ने ऐसा किया, तथा विधिवाद में ऐसा कहे कि मिथ्यात्वी ऐसा करे, श्रावक साधु ऐसा नहीं करे, ऐसा स्पष्ट रूप में कहे, पर ऐसा न कहे कि ऐसा करना वैसा नहीं करना, यह कार्य करना, यह कार्य नहीं करना, ऐसा नहीं बोले, ऐसा सुनने पर इनमें से कोई अधिक धर्म का काम होवे, उसे अंगीकार करे तथा अधिक पाप का कार्य होवे उसे छोड़े, उसकी क्रिया साधु को नहीं लगती है। फिर कथानक प्रसंग देखकर चतुर श्रावक होता है वह स्वयं के लिये गुणकारी क्रिया देखे वही करे। अवगुणकारी बात देखे उसे छोड़े, यह गृहस्थ की इच्छा है, साधु की आज्ञा नहीं। निषेध भी नहीं करे उसे ज्ञेय पदार्थ कहते हैं।

यहां कोई ऐसा कहे कि, साधु आज्ञा दे वह धर्म तथा आज्ञा नहीं दे वह पाप। ऐसा कह कर ज्ञेय पदार्थ को निरर्थक करता है, जो एकान्त विरुद्ध विचार करना है। यदि साधु गृहस्थ के घर जावे, वहां श्रावक उठकर खड़ा

होवे, सात आठ कदम आगे बढ़कर नमस्कार करे, आहार पानी के लिये घर लेजाकर अन्नादि देवे. वहां साधु आज्ञा नहीं देवे अतः आज्ञा बिना एकान्त पाप होवे तो वह पाप किसने कराया ? यदि साधु गृहस्थ के घर नहीं आते तो श्रावक पाप कैसे करते ? इस दृष्टि से यह पाप साधु ने कराया, तुम्हारी श्रद्धा से साधु का दूसरा करण भंग हुआ, तथा आहार असूझता अर्थात् सावद्य हुआ, परन्तु वास्तव में एकान्त पाप नहीं । ऐसे ही प्रतिक्रमण में उठते बैठते, स्वामिवात्सल्य करते, प्रभावना दलाली प्रमुख धर्म कार्य भी साधु की आज्ञा बिना करते हैं यदि इसमें एकान्त पाप होता है तो उसे आप निषेध क्यों नहीं करते ? भगवान ने सूत्र में पाप का स्थान २ पर निषेध किया है, 'संबुज्झमाणेए नरे मइमं पावाओ अप्पाणं निवट्टएज्जा" इति वचनात् । इस अपेक्षा से पाप नहीं है, फिर भी सूय– गडांग सूत्र के पांचवें अध्याय में प्रश्न १ में नर्क के दुख बताये हैं, तथा श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्याय में जहां मद्य, मांस भक्षण आदि हिंसादि कर्तव्य का फल नरक में भोगे उसका स्मरण किया पर स्वामिवात्सल्य, दान, जीव रक्षा आदि का स्मरण नहीं किया, इसलिये पाप नहीं है यहां पर कई लोग ऐसा कहे कि आप आज्ञा बाहर धर्म कहते हो अतः ऐसा कहने वालों को ऐसा कहे कि आप आज्ञा का वास्विक अर्थ नहीं जानते तथा एकांत

मान्यता का पोषण करते हो, आज्ञा के दो भेद हैं, १-आदेश आज्ञा तथा २-उपदेश आज्ञा, इनमें से आदेश आज्ञा तो साधु को दी है और गृहस्थ को प्रवृत्ति भाव में ज्ञेय पदार्थ के विषय में किसी स्थान पर आज्ञा नहीं दी है तथा उपदेश आज्ञा तो ज्ञेय पदार्थ में जितना जितना धर्म है उतनी उतनी सबकी आज्ञा भगवान ने दी है। श्री दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्याय की ११वीं गाथा में कहा है कि "सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं। उभयंपि जाणइ सोच्चा, जंसेयं तं समायरे ॥१॥" श्रेय कल्याण की बात देखकर उसमें जो अच्छी लगे वही उपयोग में लें। इसलिये श्रेय वस्तु की भगवान आज्ञा नहीं देवे, परन्तु वास्तव में आज्ञा है ही। फिर श्री पन्नवणा सूत्र के ग्याहरवें पद में कहा है कि "आराहणी सच्चा, विराहणी मोसा. आराहणी विराहणी सच्चा मोसा" जो इन तीनों में नहीं वह व्यवहार। यहां मिश्र भाषा को आराधक विराधक दोनों कही है। इसमें जितना झूंठ है उतनी भगवान की आज्ञा नहीं, तथा जितना सत्य है उतनी भगवान की आज्ञा है। इस न्याय से ज्ञेय पदार्थ में जितना-धर्म है, उतनी आज्ञा ही है, इसलिये आज्ञा विना धर्म नहीं। धर्म तो आज्ञा में ही है, पर उपदेश आज्ञा तथा आदेश आज्ञा दोनों अलग २ हैं। यहां कोई समुच्चय साधु

सिखाते हैं कि साधु का विनय करने से निर्जरा होती है। स्वामी वात्सल्य आदि करने से समकित शुद्ध होता है, ऐसे आज्ञा ही है, फिर साधु पूंजे, परठे विवेक करे, हिले चले तो धर्म को ग्रहण कर हिले चले। यत्ना से पूंजे परठे आदि क्रियाओं में पाप है क्या ? यदि नहीं तो पाप गृहस्थ को ही लगता है क्या ? और साधु को छोड़ देता है क्या ? पाप डरता है ? तथा मिश्र भाषा की अपेक्षा कोई ऐसा कहते हैं कि मिश्र भाषा तो एकान्त पाप ही है उसको भगवान ने आराधक विराधक कैसे कहा ? तथा कोई शिकारी को मृग बतावे, उसके पूछने पर शीघ्रता से मिलने के लिये दो घड़ी की एक घड़ी बतावे। किसी दया के कारण ऐसा कहा कि उस मृग को गये तो एक प्रहर समय बीत गया है, ऐसा उस शिकारी को कहे। किसी ने साधु को घृत देते आधा सेर को सेर कहा किसी ने पाव सेर कहा तो उन दोनों को एकांत पाप होवे यह कैसे ? उत्तर यहां दोनों जगह भिन्न दृष्टि होने से परिणाम में अन्तर पड़ता है। फिर कोई मिश्र भाषा, किसी के लिए आराधक किसी के लिए विराधक यह कैसे ? उन्हें ऐसा कहें कि ऐसा तो हम भी कहते हैं। ज्ञेय पदार्थ कोई तिरता है कोई डूबता है तो क्या दोनों होते हैं ? यहां कोई कहे कि ये तो बोलने की अपेक्षा सत्य व झूठ कहा है पर बोलने से एक ही होवे, पर दो नहीं। जो दूसरे को ठगने के लिए

कहे तो विराधनी नहीं तो आराधनी । क्योंकि श्री पन्नवणा सूत्र के ग्यारहवें भाषा पद में साधु को चार भाषा बोलते हुए आराधक कहा है । इसलिए प्रवचन की प्रभावना के लिए गुरु आदि के दोष गोपन के लिए झूठ बोलने पर भी दोष नहीं, ऐसे कहने वाले को झूठ का स्थापक कहें । यदि भगवान की झूठ बोलने की आज्ञा है ? झूठ बोलने से पाप नहीं है, तो फिर देव, गुरु संघ के लिए की गई हिंसा का भी पाप नहीं है । देव, गुरु, संघ के लिए चक्रवर्ती की सेना का नाश करे तो भी पाप नहीं है परन्तु यहां पाप कैसे मानते हो ? यहां कोई कहे कि श्री भगवती सूत्र के पांचवें शतक के छट्ठे उद्देश्य में मृग बचाने के लिए असत्य बोला उसे द्रव्य कैसे कहा ? ऐसे कहने वाले को कहें कि उसके दया के परिणाम हैं इस कारण तीव्र झूठ नहीं है इसी अपेक्षा से द्रव्य कहा है पर भाव का रहस्य नहीं होवे तो आप ज्ञेय पदार्थ कैसे छोड़ते हो ? आप ऐसी भाषा क्यों नहीं बोलते ? तब कहे कि साधु का कल्प नहीं है, यदि साधु का कल्प नहीं है तो साधु को पाप लगे पर गृहस्थी को नहीं लगे तो क्या साधु को पाप लगा है ? यहां कोई कहे कि साधु ऐसी भाषा बोले तो पाप नहीं, क्योंकि श्री आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के तीसरे अध्याय में कहा है कि साधु को गृहस्थ पूछे तो

जानता हुआ भी मैं नहीं जानता ऐसा कहे। ऐसे कहने वाले को ऐसा कहे तो झूठ बोलने की भगवान की आज्ञा है तो हिंसा, चोरी, मैथुन आदि अट्ठारह पाप की भी आज्ञा होगी। यदि दूसरे पाप की आज्ञा नहीं है तो झूठ की भी नहीं है फिर आचारांग का अर्थ मिथ्या करता है। किसी स्थान पर लिखा होगा तो भी गलत है। अधिक प्रतियों में तो ऐसा नहीं है कि यदि जानता है तो भी मैं जानता हूँ ऐसा नहीं कहे। ऐसे पहला व दूसरा दोनों व्रत पाले, वीतराग का उपदेश तो जीव रक्षा के लिए भी झूठ नहीं बोलने का है। इस कारण विचार कर बोले अथवा मौन रखे, वह अर्थ शुद्ध है, पर ज्ञेय पदार्थ में आज्ञा नहीं देवे।

यहां कोई कहे कि ज्ञेय पदार्थ की आज्ञा नहीं देवे यह साधु का कल्प है, पर इस करणी में पाप नहीं है उन्हें ऐसा कहें कि कल्प नहीं इस कारण से धर्म भी नहीं। यदि धर्म होता तो आज्ञा देते, इसलिए दान में धर्म है तो गृहस्थ को दान देने की साधु आज्ञा देते हैं तथा उठने बैठने की आज्ञा नहीं देते क्योंकि गृहस्थ का कर्तव्य अव्रत में है, इस कारण लब्ध वीर्य में तो अव्रत है, तथा करण वीर्य में विनय आदि धर्म करणी है। फिर वन्दन करते समय सूर्याभ को भगवान ने आज्ञा दी। नाटक के समय ज्ञेय जानकर मौन रखा। इसीलिए आज्ञा नहीं देवे, कई तो

एकान्त कारण स्थापित करते हैं, कई एकान्त कार्य स्थापित करते हैं, ये दोनों ही दुर्नय के प्ररूपक लगते हैं। फिर वीतराग के तो जहां कारण कार्य ये दोनों शुद्ध होवे वहां धर्म है। उपादेय पदार्थ आदरने योग्य है। जहां कारण कार्य दोनों अशुद्ध हो वहां अधर्म है। यह हेय पदार्थ है। जहां कार्य शुद्ध, कारण अशुद्ध हो वहां अल्प पुण्य है। जहां कारण शुद्ध, कार्य अशुद्ध वहां अल्प पाप है, परन्तु ये सब ज्ञेय पदार्थ हैं।

अब नौ पदार्थ पर तीन बोल कहते हैं, प्रथम तो एक नय में नौ पदार्थ ज्ञेय हैं। सूत्र में स्थान स्थान पर कहा है कि जो श्रावक श्राविकाएं नौ पदार्थ के जानकार हैं, उनकी अपेक्षा से है, फिर कोई हेय जानकर छोड़ता है, कोई उपादेय जानकर ग्रहण करता है इस अपेक्षा से तो आगे जाकर दो पक्ष रहे परन्तु यहां तीन पक्ष की अपेक्षा दिखाते हैं। जीव तथा अजीव जानने योग्य हैं। इनमें कई जीव अजीव ग्रहण करने योग्य हैं व कई छोड़ने योग्य है, परन्तु समुच्चय में ज्ञेय पदार्थ है। पुण्य जानने योग्य है, क्योंकि पुण्य छूटने से मुक्ति जावेंगे। पुण्य साथ लिये मुक्ति नहीं जाते हैं। कोई ऐसा कहे कि पुण्य धर्म है, धर्म एवं पुण्य एक ही है। यह बात एकांत रूप में नहीं मिलती है, एवं क्योंकि पुण्य कर्म हैं, धर्म कर्म नहीं है, पुण्य

पुद्गल है, धर्म उसका फल है, तथा पुण्य बंध है, धर्म मोक्ष है, तथा पुण्य चार गति में भटकाता है, धर्म चार गति छुड़ाता है, पुण्य छूटने वाला है। धर्म ग्रहण करने योग्य है, इसलिये धर्म पुण्य एक नहीं है, किन्तु भाव पुण्य अर्थात् पुण्य की करणी व धर्म एक ही है। किसी नय में पुण्य ग्रहण करने योग्य भी है, इसलिए धर्म की तथा पुण्य की करणी एक है। श्री भगवती सूत्र के चौथे शतक के दशवें उद्देश्य में ओषध मिश्रित भोजन के दृष्टांत से बताया है। अट्ठारह पाप से निवृत्ति पाने पर कल्याणकारी क्रिया उपार्जन करते हैं, तथा श्री ठाणांग सूत्र के दसवें ठाणे में दस प्रकार से कल्याणकारी कर्म करना बताया है, श्री ज्ञाता सूत्र के आठवें अध्याय में बीस प्रकार से तीर्थङ्कर नाम प्रकृति बांधे। इस अपेक्षा से भाव पुण्य की करणी निर्वद्य है। जो ग्रहण करने योग्य है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के इक्कीसवें अध्याय की २४वीं गाथा में कहा है, "दुविहं खवेऊणंय पुन्न पांव' तथा इसी सूत्र के दसवें अध्याय की १५वीं गाथा में कहा है "मंसरइ सुहा सुहेहिं कम्मेहिं" दोनों कर्म भटकाने वाले हैं।

यहां कोई अविवेक शिरोमणी ऐसा कहता है कि पुण्य एकान्त छोड़ने योग्य है, पुण्य चोरी व खोड़े अर्थात् पैर बंधन समान है, पुण्य सोने की बेड़ी के समान है, ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि व्यवहार नय में पुण्य छोड़ने

योग्य नहीं, परन्तु ग्रहण करने योग्य है, श्री उत्तराध्ययन सूत्र के पांचवें अध्याय की १८वीं गाथा में कहा है 'मरणंपि सपुन्नाणं' पुण्यवन्त का मरण सुधरता है। श्री उत्तराध्ययन के तेरहवें अध्याय की २१वीं गाथा में "धणियंतु पुन्नाइं अकुव्वमाणे" पुण्य नहीं करेगा तो बाद में बहुत पछतावेगा। तथा इसी सूत्र के बीसवें अध्याय में 'हे महा भाग गौतम' यहां पुण्य के नाम से सम्बोधित किया है, पुण्य को चोर कहने वाला झूठा है। पुण्य बोलाऊं (रक्षक) के समान है। क्योंकि श्री भगवती सूत्र के १४वें शतक के सातवें उद्देश्य में लव सप्तम देवता को सात लव प्रमाण से आयुष्य शुभ होता है तो मोक्ष में जाते ऐसा कहा है। यहां पुण्य रूप बोलाऊं क्षय होगया है। इस-लिये मोक्ष नहीं गये, पुनः कोई कहे कि पुण्य सोने की बेड़ी है तथा पाप लोहे की बेडी है, यह बात सिद्धान्त की अपेक्षा से नहीं मिलती है, क्योंकि बेड़ी तो होना दुखदाई है और पुण्य सुखदाई है। श्री आचारांग सूत्र के छट्ठे अध्याय के दूसरे उद्देश्य में पुण्य बेड़ी जहाज समान बताई है। श्री भगवती सूत्र के तेवीसवें शतक में शरीर पुण्य प्रकृति को नाव कहा है, जब तक समुद्र में बैठा है, वहां तक तो नाव ग्रहण करने योग्य है। यदि बीच में नाव छोड़ेगा तो पानी में डूबेगा, किन्तु समुद्र पार उतरने के बाद अपने घर जाने समय नाव ग्रहण नहीं होती है।

नाव छूटने पर ही घर जा सकेगा, परन्तु नाव छूटे बिना नहीं। इसी प्रकार संसार रूप समुद्र में तेरहवें गुणस्थान तक तो पुण्य रूप नाव ग्रहण करने योग्य है, अंत समय में पुण्य स्वतः ही छूट जाता है, अतः मैं अभी से छोड़ दूं, ऐसा जानकर पुण्य रूप नाव छोड़ देगा तो पाप रूपी पानी में डूब जावेगा। अतः संसार समुद्र तिरने के बाद चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में पुण्य छूटता है, इसलिये वहां पुण्य छूटने से मुक्ति जावेगा। दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष झोले में घूंघरी लेकर अन्यत्र जाने लगा मार्ग में घूघरी खाता जावे और कंकर दूर डालता जावे, ऐसे करते हुए घूघरी खाकर पूरी कर दी, तथा कंकर भी डालकर पूरे कर दिये, इस दृष्टांत से जीव भी शुभाशुभ कर्म सहित है, पाप का त्याग करता हुआ पाप रूपी कंकर डाल दे तथा पुण्य रूपी घूघरी खाकर पूरी करे परन्तु डाले नहीं, दोनों पूरे होने पर कर्म रहित हो जावे, यदि घूघरी डाल दे तो भूख से मर जावे, इस न्याय से पुण्य छोड़ने योग्य नहीं है।

महल मे प्रवेश करने के लिए सीढ़ियां चढ़ना आवश्यक है, अस्तु सीढियां आदरणीय हैं किन्तु ऊपर चढ़ने के पश्चात् स्वतः छूट जाती है। यदि बीच में छोड़ दे तो नीचे गिरे। इसी प्रकार मुक्ति मन्दिर में प्रवेश हेतु पुण्य

रूप सीढियां ग्रहण करने योग्य है किन्तु चवदहवें गुण स्थान के अन्तिम समय में छूट जाता है। जैसे राजा के साथ परिषदा रहती है. वह परिषदा राजा के महल में प्रवेश करते समय पीछे रह जाती है परन्तु साथ नहीं आती है इसी प्रकार पुण्य महज में छूट जाता है, फिर पाप मेल समान है. अतः पुण्य रूप पानी तथा साबुन से धोने पर आत्मा उज्ज्वल होगी। उज्ज्वल होने पर साबुन व पानी के समान पुण्य को निचोड कर निकाल देवेंगे। जहां तक पाप रूप चोर का भय है, वहां तक पुण्य रूप बोलाऊ अर्थात् रक्षक साथ लेने योग्य है तथा भय मिटने के पश्चात् रक्षक का काम नहीं है, ऐसे ही पाप मिटने पर पुण्य का काम नहीं है, इस कारण से पुण्य ग्रहण करने योग्य है, तथा छूटने वाला भी है।

कोई कहते हैं कि पुण्य की इच्छा नहीं करनी चाहिये यह भी एकान्त नहीं मिलता है, पुण्य की करणी अर्थात् भाव पुण्य की इच्छा करना कहा है तथा सुपात्र के लिए कहा है कि 'त्रिपेसेणं जीवे धम्म कामए, मोक्ख कामए" इति। धर्म पुण्य, स्वर्ग मोक्ष की इच्छा करे तो देव लोक में जावे, परन्तु पुण्य के परमाणु द्रव्य पुण्य की इच्छा नहीं करे। पुण्य के फल ऋद्धि संपति मिलने इत्यादि की इच्छा न करे। करे तो सरागी पन है। गेहूं पैदा होने पर घास

स्वभाविक हो जाता है, परन्तु ऐसा जानते हैं कि घास बाद में छोड़नी पड़ेगी, तो मैं पहिले ही छोड़दूं। ऐसा मानकर यदि घास को पहिले ही उखाड़ फैंक दिया तो गेहूँ पैदा नहीं होंगे ऐसे ही संवर व निर्जरा करते हुए पुण्य सहज ही उत्पन्न होता है. पर इच्छा नहीं करे। अकेले गेहूँ उत्पन्न नहीं होते इसलिये घास की रक्षा करते हैं, इस न्याय से समुच्चय में पुण्य ज्ञेय पदार्थ है ३। पाप एकांत अशुभ योग होने से हेय पदार्थ है ४। आश्रव के दो भेद १-शुभ आश्रव, २-अशुभ आश्रव। यहां मिथ्यात्व आदि अशुभ आश्रव वह एकान्त हेय पदार्थ छोड़ने योग्य है, तथा शुभ योग आदि शुभ आश्रव पुण्य के समान ज्ञेय पदार्थ (जानने योग्य) है, व्यवहार नय में ग्रहण करने योग्य है। निश्चय में छूटने वाला है। क्योंकि श्री उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नतीसवें अध्याय में कहा है कि "पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभई" जितनी जितनी वस्तु का त्याग किया वे सब पदार्थ आश्रव है। ऐसे खाना पीना, उठना, बैठना, सोना, बोलना, ये सब आश्रव निश्चय में छोड़ने योग्य है। किसी धार्मिक क्रिया का प्रत्याख्यान नहीं होता है।

यहां कोई कहे कि साधु तप करे, मौन रखे, जिन कल्पीपन ग्रहण करे, संभोग त्याग करे, धर्म कथा नहीं

करे, शिष्यादि का त्याग करे, ये सब धर्म के ही त्याग लगते हैं। इसका उत्तर संवर धर्म के त्याग किसी भी स्थान पर नही मिलते हैं, पर कर्तव्य में जितना योग व्यापार है, उसे हेय पदार्थ जानकर त्यागते हैं। फिर साधुपन लेते समय जितने कर्मों का त्याग किया वे सब सावद्य हैं। साधु नहीं करते हैं वे सब सावद्य कार्य है, इनमें से कई कार्यों में तो एकांत पाप है, कई कार्यों में पाप का मिश्रण है, पुण्य पाप दोनों उत्पन्न होते हैं, परन्तु निर्वद्य कार्यों का त्याग नहीं किया है। फिर साधुपन में जो जो कार्य सेवन करे, वे सब निर्वद्य है, तथा साधुपन लेने के पश्चात् उसमें के कार्य व्यवहार नय में उपादेय जान कर ग्रहण करते हैं। निश्चय नय में इनमें से जितने आश्रव के कर्तव्य है, उन्हें निश्चय हेय जानकर छोड़े। इसलिये आश्रव के दो भेद किये हैं ५। संवर ग्रहण करने योग्य है, उपादेय है यद्यपि मुक्ति जाने पर क्रिया रूप संवर छूट जाता है। तथापि निश्चय संवर समकितादि तो सिद्ध में भी है। वह कभी नहीं छूटता है। परन्तु व्यवहार छूटता है। यह व्यवहार कर्मवंत के होता है। श्री आचारांग सूत्र में "अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ।" कर्म बिना व्यवहार नहीं होता है। इस न्याय से पहिले गुण स्थान से लेकर ऊपर ऊपर चढ़ते व्यवहार घटता है, निश्चय

वढ़ता है इसलिए संवर निवृत्ति भाव का त्याग नहीं होता है ६। निर्जरा ग्रहण करने योग्य है, कर्म क्षय होने के पश्चात् निर्जरने योग्य कर्म पुद्गल नहीं हैं तथापि निर्जरा का गुण तो विद्यमान ही है। कर्म विना किस की निर्जरा करे? जहां वेदन है वहां निर्जरा है। पहले समय वेदे, दूसरे समय निर्जरा करे। इसी वास्ते सिद्धों में वेदना नहीं है, वैसे ही निर्जरा भी नहीं है ७। वंध के दो भेद आश्रव के समान अशुभ होवे, शुभ व्यवहार में होवे एवं उपादेय निश्चय में होवे ८। मोक्ष ग्रहण करने योग्य है, कर्मों का क्षय करना (छोड़ना) मोक्ष है। क्षय होने के पश्चात् मोक्ष नहीं है क्योंकि कर्मों के विना किसका क्षय (छोड़े) करे।

एक अपेक्षा से नौ पदार्थ का परिचय बताते हैं। व्यवहार नय में १—जीव, २—अजीव, ३—पुण्य, ४—पुण्य आश्रव, ५—पुण्य वंध ये पांच ज्ञेय पदार्थ है। इनमें ज्ञेय पदार्थ भी है, उपादेय भी है, १—पाप, २—पाप आश्रव, ३—पाप वंध ये तीन हेय अर्थात् छोड़ने योग्य है। १-संवर २—निर्जरा, ३—मोक्ष ये तीन ग्रहण करने योग्य है। निश्चय नय में जीव अजीव जानने योग्य है, पुण्य छूटता है, अतः यह भी जानने योग्य है। पाप, आश्रव एवं वंध ये तीन तत्त्व छोड़ने योग्य हैं, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन तत्त्व ग्रहण करने योग्य है तथा एक अपेक्षा से केवल

संवर ही ग्रहण करने योग्य है। तथा एक अपेक्षा से सिद्धत्व अर्थात् मोक्ष ही ग्रहण करने योग्य है क्योंकि विशुद्ध नय में जीव के गुण केवल ज्ञानादि ही ग्रहण करने योग्य है, निश्चय में एक जीव ही है। दूसरा कोई नहीं है, उनमें पुण्य, पाप, आश्रव तथा बंध ये चार एक है, अनात्मा रूपी अजीव हेय है अनाज्ञा कर्म अनित्य प्रकृति उदय, नित्य अशुद्ध जीव को मेला करने का स्वभाव है। इसलिए अजीव के पर्याय कहलाते हैं। संवर, निर्जरा व मोक्ष ये तीन एक हैं, आत्मा रूपी अरूपी जीव उपादेय, आज्ञा, कर्म अप्रकृति, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक भाव, शुद्ध जीव को उज्ज्वल करने का स्वभाव है, जीव के गुण पर्याय है। जीव के पर्याय जीव स्वरुपी है, औपचारिक अनेक नय है।

॥ इति हेय, ज्ञेय, उपादेय द्वार समाप्तम् ॥

ये नौ तत्त्व पर चौवीस द्वार वताये हैं, इनमें जीव तथा अजीव ये दो तो मूल द्रव्य है तथा सात इनके पर्याय है। इन नौ पदार्थ का जानपना तथा इस पर श्रद्धा को समकित कहते हैं, क्योंकि श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय में इन नौ तत्त्व के जानने को श्रद्धा समकित कहा है। यहां कोई कहे कि नौ तत्त्व जाने विना समकित नहीं आवे। इसका उत्तर है कि समकित तो देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा

में है तथा नौ तत्त्व तो विशेष ज्ञान है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय में दस प्रकार की रुचि कही है। इसमें नौवीं संक्षेप रुचि कही है। जिसने पर पाखण्डी का मत धारण नहीं किया, जैन मार्ग का जानकार नहीं, उसको धर्म सुनने से तत्काल संक्षेप रुचि समकित प्राप्त होती है। उसने नौ तत्त्व कब सीखे थे? फिर श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्याय में कहा है कि साधु को कोई जीवादि पदार्थ पूछे और नहीं आवे तो आर्तध्यान नहीं करे। फिर श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पांचवें उद्देश्य में तथा ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में कहा है कि साधु की सेवा करने से दस बोल की प्राप्ति होती है, उसमें पहिले बोले सूत्र सुनने से, दूसरे बोले ज्ञान अर्थात् श्रद्धा सम्यक्त्व रूप ज्ञान आवे, तीसरे बोले विज्ञान आवे, इस प्रकार पहिले श्रद्धा आती है फिर नौ तत्त्वादि विशिष्ट ज्ञान सीखता है। फिर असोच्चा केवली के लिये श्री भगवती सूत्र के नौवें शतक के तेतीसवे उद्देश्य में कहा है कि कथंचित् प्रकार से जीवा जीवादिक का ज्ञान होने से पाखंडी, सारंभी, सपरिग्रह जानने से साधु की प्रतीति होने से समकित आती है। उन्हें समकित प्राप्त हुई तब नवतत्त्व कहां सीखे थे? फिर आज समकित पाकर आज ही साधुपन लिया वह जीव छः महिने में प्रति-क्रमण सीखता है और फिर नौतत्त्व सीखता है, यदि ऐसा

माना जाय तो समकित बिना आप आहार पानी सामिल कैसे करते हो ? आपकी मान्यतानुसार साधुपन कैसे रहेगा। फिर अर्जुन माली, अतिमुक्तकुमार, गजसुखमाल आदि जिस दिन समझे थे उसी दिन संयम लिया उन्होंने नौतत्त्व कब सीखे ? फिर यदि नौ तत्त्व सीखने से ही सम्यक्त्व आती है तब तो नौतत्त्व अन्य मति बहुत सीखते हैं। उन सब के समकित क्यों नहीं मानते ? फिर समकित सोने की मुद्रिका है, एवं नौ तत्त्व तो रत्न समान है। यदि मुद्रिका में रत्न जड़े तो विशेष शोभायमान होता है और यदि रत्न का योग नहीं मिले तो मुद्रिका तो शोभा प्राप्त करेगी ही वैसे ही नौ तत्त्व सीखने से विशेष शोभा पावे, और यदि नौ तत्व नहीं सीखा होवे तो भी समकित तो रहेगी ही।

फिर श्री भगवती सूत्र के पहिले शतक के तीसरे उद्देश्य में कहा है कि "तमेवसच्चं निस्संकं, जं जिणेहिं पवेइ़यं" जो भगवान ने फरमाया वह सत्य है। ऐसा विचारे तो आज्ञा का आराधक होता है। फिर श्री नौतत्त्व प्रकरण में कहा है कि "जिवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मतं। भावेण सद्दहंतो, अयाण माणोवि सम्मतं ॥१॥ जीवादि नौ तत्त्व (पदार्थ) का जानकार हो उन्हें समकित होती है, परन्तु जीव अजीव इत्यादि पदार्थों के स्वरुप का भाव करके श्रद्धा न करे तो व्यवहार में नौ तत्त्व को नहीं

जानने वाले को भी समकित होती है, जैसे वालक दूध का नाम तो नहीं जानता है, पर दूध का स्वाद जानता है वैसे ही नौ पदार्थ का नाम तो नहीं जानता है पर परमार्थ जानता हो उन्हें समकित होती है, तथा नौ तत्त्व प्रकरण में कहा है कि "सव्वाइ जिणेसर भासियाइं वयणं न अन्नहा हुंति। इय वुद्धि जस्समणे, सम्मतं निच्चलं तस्स ॥१॥ भगवान् ने फरमाया वह सत्य है। ऐसा जानना समकित है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय में भी नौ तत्त्व सीखने से समकित कहा है तथा भाव से श्रद्धा करे तो व्यवहार में नहीं जानने वाले को भी समकित होवे, इत्यादि नौ पदार्थ का ज्ञान साधु को, श्रावक को सम्यक-दृष्टि को अवश्यमेव ग्रहण करना चाहिये। जिससे समकित की शुद्धता होवे। समकित की श्रद्धा में भी बराबर नौतत्त्व का परिचय करना वताया है। नौ तत्त्व के भाव अनेक सूत्रों के आधार से वताये हैं। एक नय के कहने पर सर्व नय ग्रहण करना चाहिये। एक नय माने उसे मिथ्यादृष्टि कहा है, जो सर्व नय मानता है वही समकिति है। श्री अनुयोग द्वार सूत्र में वताया है कि "तं सव्व नय विशुद्धं, जं चरण गुण ठिओ साहु" क्योंकि भगवान का मत स्या-द्वाद है, जो सर्व नय में है। एक पक्ष खेंचे उसे दुर्नय कहा है, फिर श्री आचारांग सूत्र में "समियंति मन्न

माणस्स, एगदा संभियावा, असंभियावा, संभिया होइ उवेहाए" जिसे स्वयं सत्य मानता है, वही बात सच्ची है तथा असत्य स्वयं के हृदय में है। ऐसी ही सिद्धांत वाचना की धारणा बना रखी है, परन्तु उस बात का दुराग्रह नहीं है, अपनी मान्यता की स्थापना तथा दूसरे की मान्यता की उत्थापना नहीं करता है, राग द्वेप रहित श्रद्धा करता है, तो ऐसी अवस्था में विचार करने पर दोनों की मान्यता हो सकती है, तथा कोई धारणा सत्य या झूंठी है किन्तु स्वयं के हृदय में प्रगाढ़ धारणा बन गई है उसी के प्रति आग्रह रखता हुआ अधिक दुराग्रह करे, अपनी मान्यता की स्थापना करे, दूसरे की मान्यता नहीं माने, केवली को नहीं सम्भलावे, अधिक जिद्द करे वह सत्य हो तथा झूंठ किन्तु मिथ्या रुप में परिणित होजाती है। इसलिये अपनी धारणा का आग्रह नहीं करता हुआ केवली प्ररूपित सत्य है ऐसा निश्चय रखें। केवल ज्ञानी के द्वारा निर्णित वस्तु की अपने को खेंच नहीं करना चाहिये केवली गम्य है, ऐसी धारणा रखने योग्य है। यहां कोई कहे कि मेरे तो शंका नहीं है। मैं सूत्र के न्याय से सहमत हूँ, मैं केवली गम्य है ऐसा क्यों कहूँ? छः काया के जीव केवली द्वारा प्ररूपित है वैसा ही मैं कहता हूँ? उन्हें ऐसा कहे कि छः काया को जीव तो सर्व जैन मात्र मानते हैं। उसमें तो

शंका नहीं, पर एक आचार्य ऐसी रीति से माने तथा दूसरा आचार्य दूसरी रीति से माने, इस बात को अधिक नहीं खेंचना, अधिक खेंचना अवगुण का कारण होता है। पासत्था के दुपट्टा के दृष्टान्त से दुख पावे, फिर केवली गम्य कहने में क्या दोष लगता है ? एकान्त खैंचे उसे अभिनिवेषक मिथ्यात्व का स्वामी बतलाया है, तथा पूछने वाले से ऐसा कहे कि, यह वस्तु तो ऐसे दिखाई देती है, फिर वीतराग देव कहे उस प्रमाण से है। ऐसा कहते दुराग्रह भी नहीं होवे राग द्वेष नहीं बढ़े, तथा भगवान का आराधक होवे ऐसी हमारी धारणा है। परन्तु हमारे इस बात की खींच तान नहीं है। दूसरे पंडित सिद्धान्त के अनुसार दूसरी अपेक्षा बतावे तो वह मानने के भाव है। उपर्युक्त सभी अपेक्षाएं स्थापना रूप नहीं है। जैसा समझ पाये हैं, वैसा लिखा है। अतः पंडित पुरुष मेरे पर अनुग्रह कर शुद्ध करें। हमारे तो "तमेव सच्चं निस्संकियं जं जिणेहिं" यह श्रद्धा है। यहां इतनी अपेक्षाएं ध्यान में आयी है पर तत्त्व तो केवली गम्य है।

॥ इति नव पदार्थ पर चौबीस द्वार समाप्तम् ॥

॥ इति श्री जैन तत्त्व शोधक ग्रंथ समाप्तम् ॥